श्रीमद्
भगवद्गीता

हिन्दी रूपान्तर

9.8.92

डा॰ प्रेम सागर शास्त्री



श्रीमद् भगवद्गीता

हिन्दी रूपान्तर

डा. प्रेम सागर शास्त्री
PES(I)

प्रकाशक
जे. सी. पब्लिकेशन्स
ऐ.आई.एम.ओ. हाउस, 1-ई/11
झन्डेवालान ऐक्सटेनशन,
नई दिल्ली-110055

 1504/2, 43-बी०
चण्डीगढ़

मूल्य : 15 रुपये

प्रकाशक
जे. सी. पब्लिकेशन्स
ऐ.आई.एम.ओ. हाउस, 1-ई/11
झन्डेवालान ऐक्सटेनशन,
नई दिल्ली-110055

लेज़र टाइप-सेट
बर्मन ग्राफिक्स
सी2डी/19-बी, जनक पुरी,
नई दिल्ली-110058

आत्मीय सहचर
डा. वीरेन्द्र मेंहदीरत्ता के लिये
उसी की प्रेरणा एवं स्नेह भरे आग्रह का
यह फल
जैसा भी है।

यही कहा जा रहा है कि वह स्व को, स्वधर्म को, स्वकर्म को, पहचाने। कृष्ण कोई सिद्धान्त नहीं पढ़ा रहे हैं, वह तो केवल जगा रहे हैं। स्व के स्मरण पर, आत्म-स्मृति पर, बल दे रहे हैं। स्व का स्मरण होते ही मोहभंग हो जाता है। व्यक्ति निर्बन्ध होकर अपने निर्णय पर पहुँच पाता है।

गीता में ब्रह्ममय होने की अपेक्षा, ब्रह्मरूप होने पर बल है। ब्रह्म प्राप्त करने की अपेक्षा, ब्रह्मभाव प्राप्त कर लेने पर बल है। ब्रह्मभाव आते ही, चाह एवं चिन्ता, आकांक्षा एवं आशंका, हट जाते हैं। समस्यायें समाप्त नहीं होतीं, उनकी महत्ता कम हो जाती है या कहें कि वे उचित अनुपात ग्रहण कर लेती हैं। उचित अनुपात ग्रहण करते ही उन्हें सुलझाना या उन्हें झेल सकना सरल हो जाता है। विवेक क्षत-विक्षत नहीं होता, व्यक्ति साक्षीभाव पा लेता है।

गीता परात्पर के सूक्ष्मातिसूक्ष्म स्वरूप की व्यंजना के साथ साथ उसके एक व्यक्त अंश की महिमा का, जीवन की विराटता का, इसके ऐश्वर्य का एवं वैविध्य का, लोमहर्षक वर्णन प्रस्तुत करती है, तथा यह भी बताती है कि जो कुछ भी संसार में है, उसका अपनी उत्कृष्टतम स्थिति को पा लेना परम पा लेना है। यह जीवन की महिमा का ग्रन्थ है।

गीता कर्म पर बल देती है, पर इसमें कर्म-वैविध्य की व्याख्या नहीं है। क्योंकि इसका प्रतिपाद्य कर्म न होकर कर्म-निष्पादन की अनाविल दृष्टि है। कर्म में अकर्म हो सकता है, अकर्म में कर्म हो सकता है। गीता महात्मा बुद्ध को पुनः अनासक्त सम्राट बन जाने की बात नहीं कहेगी, न महात्मा गान्धी को पुनः बैरिस्टर बनने की तथा न ही श्री अरविन्द को पुनः राजनेता बनने की। अपने अपने गुण-स्वभाव वश प्रत्येक व्यक्ति आत्मोपलब्धि का अपना कोई भी मार्ग चुन सकता है। मार्ग चयन का निश्चय व्यक्ति का आत्म ही कर सकता है। नेत्रहीन माता पिता की सेवा के लिये सब कुछ का परित्याग करने वाला श्रवण तथा आत्यन्तिक दुख निवृत्ति की खोज में, माता-पिता, पत्नी-पुत्र, राजपाट छोड़ देने वाला, सिद्धार्थ गौतम दोनों ही सत्कर्मी हैं। अपने अपने ढंग से आत्मोपलब्धि कर लेते हैं।

कर्म का चयन अथवा कर्म करना तो व्यक्ति के अधिकार क्षेत्र की बात है, परिणामों का नियमन नहीं। यह उसके शक्ति-सामर्थ्य की परिधि में नहीं आता। वह सत्संकल्प से कर्म करने में स्वतंत्र है। स्वान्तः स्थित दिव्यत्व के प्रति समर्पित होकर किया गया संकल्प सत्संकल्प होता है, कर्म सत्कर्म होता है। उसकी प्रामाणिकता निस्संग आत्मनिरीक्षण पर आधारित होती है, परिणाम के प्रिय या अप्रिय होने पर नहीं। कर्म की शुभता या अशुभता सत्संकल्प या असत्संकल्प से निर्धारित होती है।

श्री कृष्ण आश्वस्त करते हैं कि सत्कर्म का कभी विनाश नहीं होता। मनुष्य का अन्तः स्थित ब्रह्म भी तो यही आश्वासन देता है।

त्रिगुणात्मिका प्रकृति जीव की नियोक्ता है। गीता में प्रकृति के तीन गुणों का तथा इनकी (भिन्न भिन्न संदर्भों में) प्रकृति का बड़ा ही रोचक एवं विस्तृत विवरण है। परन्तु श्री कृष्ण अर्जुन को निस्त्रैगुण्य होने की बात कहते हैं। मानव की महिमा त्रिगुणात्मिका प्रकृति के इस खेल का अतिक्रमण कर सकने तथा उसका द्रष्टा बन जाने में है। निस्संग भाव से गुण-कर्मों का खेल देखना, जड़ भरत होना नहीं है, लीलाभाव की प्राप्ति है। गीता ममत्वहीन होने की बात कहती है, निर्मम होने की नहीं। वह आत्मसंकीर्णता एवं क्षुद्रता के परिहार की बात कहती है, निजत्व के परिहार की नहीं। सच्चा निस्त्रैगुण्य होना, सच्ची आत्मोपलब्धि, सर्व में सर्व का साक्षात्कार है। यह प्रकृति से पराङ्मुख होना नहीं, प्रकृति में अन्तर्हित पुरुष के प्रति श्रद्धावनत होना है। सभी कार्यों को सर्वस्वरूप के प्रति समर्पण भावना से, यज्ञभावना से, करना है। फलाकांक्षा एवं कर्तृत्वाभिमान से रहित होकर करना है। सब कुछ सचेत होकर, विनम्र होकर, स्निग्ध भाव से करना है।

संक्षेप में इतना ही पर्याप्त है।

विशेष

गीता में प्रयुक्त अधिकांश पारिभाषिक शब्दों की परिभाषाओं एवं अर्थ-परिधियों का गीता में ही यथास्थान उल्लेख मिल जाता है। अतः उनके लिये बाहर जाने की आवश्यकता नहीं है। उन्हें गीता में ही आगे पीछे के अध्यायों में देखा जा सकता है। हिन्दी रूपान्तर प्रस्तुत करते समय ऐसे शब्दों को यथावत् रहने दिया गया है।

अब इस अनुवाद के बारे में

गीता का हिन्दी रूपान्तर तो केवल तीन महीनों में ही संपन्न हो गया, परन्तु इसके संशोधन एवं परिमार्जन में लगभग चार वर्ष लग गये हैं। इसके एक एक पद्य को कई-कई बार मूल श्लोकों से मिला कर पढ़ा, सुनाया एवं शुद्ध किया गया है। इस रूपान्तर के मूल प्रेरक डा. वीरेन्द्र मेंहदीरत्ता ने न केवल इसे स्वयं पढ़ा अपितु कई एक विद्वान मित्रों से भी पढ़वाया। इच्छा यही थी कि भारत के इस अद्भुत, अमूल्य ग्रन्थ को यथासंभव निर्दोषरूप में, तद्वत् हिन्दी रूपान्तर में प्रस्तुत किया जाये। यह एक सामूहिक कार्य है। मैं तो एक निमित्तमात्र हूँ।

श्री रामकृष्ण आश्रम, चण्डीगढ़ के आदरणीय श्री चिदानन्द जी ने इसको अथ से इति तक सुना तथा कई अमूल्य सुझाव दिये। विराट नगर (पञ्जौर) के पूज्यवर ब्रह्मर्षि बावरा जी ने इसके प्रथम आठ अध्यायों के एक एक शब्द को सुना तथा इसे निर्दोष बना सकने में अमूल्य सहायता दी। अन्य अनेकों विद्वान मित्रों ने भी इसे सुना तथा सुझाव दिये। मैं इन सब का अत्यन्त ऋणी हूँ, तथा इस प्रयास को इन्हीं सब की देन समझता हूँ। यदि मैं सर्वत्र इनके सुझावों का अनुसरण नहीं कर सका तो यह मेरी अपनी ही सीमा है। रूपान्तर में रह गई त्रुटियों के दायित्व से मैं चाहकर भी बच नहीं सकता। अतः सादर, सविनय, नतशिर उपस्थित हूँ।

इच्छा थी कि इस रूपान्तर के प्रारम्भ में एक विस्तृत भूमिका भी दी जाये। उसके लिये तथा हिन्दी रूपान्तर को प्रमाणिक बनाने के लिये अनेकों पुस्तकें, अनुवाद, भाष्य एवं लेख आदि पढ़ने का सौभाग्य मिला। पर ज्यों ज्यों पढ़ता गया अथाह समुद्र में डूबते जाने का भाव होने लगा। लगाकि भूमिका नहीं इसके लिये तो एक विस्तृत शोध-प्रबन्ध से भी काम नहीं चलेगा। अपनी सीमा समझ कर सब कुछ पढ़े लिखे, एकत्रित किये, को अलग रखा तथा संक्षेप में अपना निवेदन प्रस्तुत कर देने में ही अपनी भलाई समझी।

इस संक्षिप्त निवेदन में भी जो कुछ कहा गया है वह भी शताब्दियों से इस क्षेत्र में काम कर रहे विद्वानों, साधकों एवं चिन्तकों के अनुभव की ही देन है।

इसी सन्दर्भ में मैं अपने किशोरावस्था से ही सहचर, अभिन्न मित्र, प्रसिद्ध दार्शनिक यशदेव शल्य (जयपुर), लगभग बीस वर्षों तक आध्यात्मिक एवं साहित्यिक चर्चाओं में प्रेरक साहचर्य प्रदान करने वाले प्रिंसीपल रा. न. माटा (लुधियाना), व्यावहारिक स्तर पर अध्यात्म को जीवन की कला बनाने वाले, अन्तरंग मित्र, डा. वीरेन्द्र मेंहदीरत्ता (चण्डीगढ़), तथा डा. देवेन्द्र दास कुमार (फरीदकोट) का स्मरण करना अपना सहज सुखद कर्तव्य समझता हूँ। इनके साथ एवं अन्य अनेकों मित्रों एवं प्रिय शिष्यों के साथ हुई अमूल्य चर्चाओं से ही यह सब संभव हो सका है।

प्रभु की असीम कृपा।
विनीत
प्रेमसागर

श्रीकृष्ण जन्माष्टमी
2.9.1991

विशेष आभार

प्रभु की असीम कृपा से मुझे सन् 1987-88 में महान् गृहस्थ योगी श्री रौशन नाथ जी की अंग्रेज़ी में लिखी कुछ पुस्तकों का हिन्दी-रूपान्तर प्रस्तुत करने का सुअवसर मिला। उसी सन्दर्भ में श्रीयुत जगदीश जी गोयल (Jay Cee Publications, AIMO House, Jhandewalan Ext. New Delhi) साहिब से संपर्क स्थापित करने का सौभाग्य मिला।

श्रीमद् भगवद् गीता के हिन्दी रूपान्तर को प्रकाशित करने का श्रेय उन्हीं को जाता है। प्रभु उनपर अपना वरद हस्त सदैव बनाये रखें, इस प्रार्थना के साथ मैं उनके प्रति विशेष आभार प्रकट करता हूँ।

प्रेम सागर शास्त्री

क्रम

श्रीमद् भगवद्गीता

हिन्दी रूपान्तर

पहला अध्याय

(अर्जुन विषाद-योग)

1 संजय से धृतराष्ट्र ने कहा :-
"धर्मभूमि, उस कुरुक्षेत्र में
युद्धहेतु एकत्रित, मेरे सुत
औ', पाण्डव क्या करते थे ?"

2 संजय बोला :- जब राजा
दुर्योधन ने, पाण्डव सेना को
खड़ी व्यूह में देखा तो,
आचार्य द्रोण से स्वयं जा कहा :-

3 हे आचार्य! आप यह देखें,
पाण्डुसुतों की भारी सेना,
जिसे आप के योग्य शिष्य ने,
द्रुपद पुत्र ने व्यूह में रचा।

4 यहाँ युद्ध में भीम और
अर्जुन जैसे हैं शूर बहुत से,
महाधनुर्धर, जिन में है
युयुधान, विराट, द्रुपद से योद्धा।

5 धृष्टकेतु औ, चेकितान
औ' महाबली काशी के राजा,
कुन्तिभोज, पुरुजित जैसे
औ' नरपुंगव हैं शैव्य यहाँ पर।

6 महाविक्रमी युधामन्यु
औ' उत्तमौज जैसे बलशाली
पुरुषसिंह अभिमन्यु तथा
सब महाबली सुत द्रुपद सुता के।

7 हे आचार्य! उन्हें भी सुन लो
अपनी सेना में विशिष्ट जो,
मेरी सेनाओं के नायक,
सूचित करने हित कहता हूँ।

8 स्वयं आप औ' भीष्म पितामह,
वीर कर्ण औ' कृपाचार्य जी,
अश्वत्थामा औ' विकर्ण
औ' भूरिश्रवा जैसे रणविजयी।

9 अन्य अनेकों शूरवीर,
मेरे हित प्राण त्यागने वाले,
अनगिन शस्त्रास्त्रों से सज्जित,
सभी युद्ध में महा निपुण हैं।

10 भीष्म पितामह द्वारा रक्षित
अपर्याप्त है अपनी सेना,
पर पर्याप्त लगे पाण्डव दल,
बली भीम द्वारा अभिरक्षित।

11 अतः आप सारे ही अपने
व्यूह-स्थलों में यथास्थान स्थित
भीष्म पितामह की रक्षा में लगें
सर्वदिक् सावधान हो।

12 तभी प्रतापी भीष्म पितामह,
दुर्योधन को हर्षित करता,
लगा बजाने शंख, उच्च स्वर में,
ज्यों सिंह दहाड़ रहा हो।

13 तब तो अनगिन शंख भेरियां
ढोल नगारे औ' मृदंग सब
एक साथ बज उठे, अचानक,
महा भयंकर शोर छा गया।

14 उधर श्वेत घोड़ों वाले,
अपने उत्तम रथ में, बैठौं ने,
कृष्ण और अर्जुन ने,
अपने अपने दिव्य शंख गर्जाये।

15 'पांचजन्य' गर्जाया प्रभु ने,
'देवदत्त' अर्जुन ने फूंका,
भीम वृकोदर ने गर्जाया
महाशंख वह पौण्ड्र नाम का।

16 शंख 'अनन्त विजय' कुन्तीसुत
धर्मराज ने भी गर्जाया,
नकुल तथा सहदेव भाइयों ने
'सुघोष' 'मणिपुष्प' बजाये।

17-18 काशिराज उत्तम धनुवाले
तथा शिखण्डी महारथी ने,
धृष्टद्युम्न, राजा विराट ने,
अपराजेय वीर सात्यकि ने,
द्रुपद तथा द्रौपदीसुतों ने,
महाबाहु अभिमन्यु वीर ने,
अपने अपने शंख बजाये
सबने, अलग अलग, हे राजन्।

19 महाभयंकर उस कोलाहल ने
पृथ्वी आकाश गुंजाये,
उसी घोष ने हृदयों को,
धृतराष्ट्र सुतों के, चीर सा दिया।

20-21 हे राजन्! तब शस्त्रपात से
कुछ ही पूर्व कपिध्वज, अर्जुन
व्यूह रचे धृतराष्ट्र सुतों को
युद्ध हेतु सन्नद्ध देखकर,
धनुष उठाये हुए, कृष्ण से
यों बोला :- हे प्यारे अच्युत!
उभय दलों के ठीक मध्य में
मेरा रथ ले जा ठहराओ।

22 जिससे मैं यह देख सकूँ, प्रभु!
कौन कौन हैं यहाँ उपस्थित,
युद्धेच्छा से, जिनसे मुझ को
लड़ना है, इस महासमर में।

23 देख सकूँ उन युद्ध कर्मियों को
जो हुए यहाँ एकत्रित,
दुष्ट-बुद्धि दुर्योधन का
जो प्रिय करने हित यहाँ उपस्थित।

24-25 'हे धृतराष्ट्र' कहा संजय नेः-
इस प्रकार अर्जुन से प्रार्थित
कृष्ण सारथी, उस रथ को ले,
सेनाओं के मध्य जा रुका।
सम्मुख भीष्म द्रोण के
औ' सब राजाओं के समुपस्थित हो
वह बोला :- 'हे अर्जुन अब
इन एकत्रित कुरुओं को देखो।

26-29 अर्जुन ने देखा, उस स्थल पर
ताऊ चाचे और पितामह,
गुरुजन, मामे, पुत्र, पौत्र, सब
भाई बन्धु, श्वशुर औ' स्नेही;
दोनों सेनाओं में, सारे
सम्बन्धी ही यहाँ उपस्थित।
देख देख सम्बन्धी जनों को,
सब को, वहाँ उपस्थित रण में
महामोह से घिरा हुआ,
अर्जुन, विषण्ण मन से यों बोलाः-
'हे माधव! इन बन्धुजनों को
युद्ध हेतु एकत्रित लख कर,
शिथिल हो रहे अंग अंग
औ' मुख मेरा सूखा जाता है।
काँप रही है देह तथा
काँटे से चुभते रोम रोम में।

30 गिरा जा रहा धनुष, हाथ से,
सारी त्वचा जली जाती है,
नहीं समर्थ खड़ा होने में, मैं,
मेरा सिर घूम रहा है।

31 हे केशव! मुझको सारे ही
लक्षण उलट-पुलट से लगते,
रण में स्वजनों की हत्या कर
कुछ भी श्रेय नहीं दिखता है।

32 नहीं चाहता विजय, कृष्ण,
मैं राज्य-सुखों को नहीं चाहता।
क्या होगा इस राज्य भोग से?
क्या होगा इस जीने से ही?

33 जिनके लिये चाहते हैं हम
राज्य भोग औ' सुख के साधन,
वे सब यहाँ उपस्थित, देखो,
प्राण और धनधान्य त्याग कर।

34-35 ये हैं गुरु ताऊ औ' चाचे
दादा, पुत्र, पौत्र औ' मामे
मासड़, श्वसुर, जँवाई, साले,
तथा अन्य सारे सम्बन्धी।
इन्हें मारना नहीं चाहता,
चाहे मुझे मार डालें ये,
तीन लोक का राज्य कुछ नहीं
तुच्छ मही सुख का कहना क्या?

36 हे माधव! क्या खुशी मिलेगी
इन धृतराष्ट्र सुतों के मारे?
नीच दुष्ट ये, इन्हें मारकर भी
तो केवल पाप मिलेगा!

37 नीच दुष्ट धृतराष्ट्र पुत्र ये
भाई ही हैं, कैसे मारें?
बन्धुजनों की हत्या करके
कैसे सुख पायेंगे, हम प्रभु?

38 यद्यपि भ्रष्ट-चित्त ये लोभी
नहीं देखते क्या फल होगा
कुल विनाश का? और
पाप क्या होगा मित्र द्रोह करने पर?

39 हम तो ये सब देख रहे हैं,
दोष जानते कुल-विनाश का,
फिर क्यों हम, इस पाप कर्म से
हट जाने की नहीं सोचते?

40 कुल विनाश से, कुल के सारे
धर्म सनातन मिट जाते हैं।
धर्म नाश होने पर निश्चय
पाप दबा लेते हैं कुल को।

41 पाप अधिक बढ़ने से, दूषित
हो जातीं कुल की अबलायें
दूषित अबलाओं से जन्मे
पुत्र वर्णसंकर होते हैं।

42 ऐसे पुत्र नरक देते
कुलघाती को औ' कुल सारे को
पिण्डदान से वंचित, इनके
पितर पतित हो जाते निश्चित।

43 कुलघाती के इन कृत्यों से
जो ऐसी सन्तति के कारक,
जाति-धर्म, कुल-धर्म सनातन,
जड़ से ही विनष्ट होते हैं।

44 नष्ट हुए कुलधर्मों वाले
ये मनुष्य, निश्चय ही केशव!
बिना अवधि का नरकवास
पाते, यह हम सुनते आये हैं।

45 धिक्, धिक्, हम यह कैसे
भारी पापकर्म करने को उद्यत
हुए, लोभ से, राज्य प्राप्ति हित,
बन्धुजनों की हत्या करके!

46 लगता है धृतराष्ट्र पुत्र ये
शस्त्रों से सज्जित हो, मुझको
शस्त्र रहित, प्रतिकार रहित को
मार जायें तो अधिक भला हो।

47 इस प्रकार कह, युद्ध भूमि में
धनुषबाण को परे छोड़ कर,
उद्वेलित-मन, अर्जुन रथ में
बैठ गया," संजय यह बोला।

दूसरा अध्याय
(सांख्य योग)

1 बन्धुनाश-आशंका पीड़ित,
मोहग्रस्त, कर्तव्य मूढ़ को,
अश्रुपूर्ण व्याकुल अर्जुन को,
इस प्रकार बोले, मधुसूदन :-

2 'इस असमय में, कीर्ति विरोधी,
स्वर्ग विरोधी, यह कायरता
क्योंकर तुम को घेर रही है?
यह न आर्यजन सम्मत, अर्जुन!

3 छोड़ो यह पुंसत्व हीनता,
यह न तुम्हें शोभा देती है।
छोड़ो क्षुद्र हृदय-दुर्बलता,
उठो, लड़ो, अरितापक अर्जुन!

4 बोला अर्जुन :-'हे मधुसूदन!
किस प्रकार मैं युद्धभूमि में
पूज्य भीष्म औ' पूज्य द्रोण से
शस्त्र उठाकर जूझ सकूँगा?

5 बिना लड़े इन पूज्य जनों से
भीख माँग खाना, श्रेयस्कर।
इन्हें मार कर यहाँ, इन्हीं के
रक्त से सने भोग मिलेंगे!

6 नहीं जानता क्या श्रेयस्कर
जीत हमारी हो या उनकी,
जिन्हें मार कर जीना नीरस,
वे धृतराष्ट्र पुत्र, सम्मुख हैं।

7 विकल बुद्धि से हत स्वभाव मैं,
धर्ममूढ़ हूँ, पूछ रहा हूँ,
निश्चय से कहिये क्या श्रेयस्?
शरण पड़ा, मैं शिष्य, तुम्हारा।

8 यह जो शोक अशक्त किये है
मुझे, विकल, कातर, उच्छोषित,
निष्कण्टक भूपति, सुरपति, बन भी
उससे निस्तार न दिखता।'

9 इस प्रकार प्रभु से विनती कर,
'युद्ध न करने की' इच्छा कह,
विवश, विकल, निद्राजित अर्जुन,
चुप हो बैठ गया, प्रभु सम्मुख।

10 सेनाओं के मध्य में खड़े,
मोह-विषाद ग्रस्त, अर्जुन को,
अच्युत मधुसूदन हँसते से,
इस प्रकार प्रियवाणी बोले :-

11 "सोच रहा है तू 'अशोच्य' को
बातें करता ज्ञानवान सी,
प्राण-रहित या प्राण-सहित का
ज्ञानी शोक नहीं करते हैं।

12 ऐसा नहीं कि मैं, तुम, या ये
जनपति, पहले कभी नहीं थे।
या फिर अब के बाद, सभी हम
कभी न होंगे, बस अब ही हैं।

13 जैसे इस शरीर पर बचपन,
यौवन तथा बुढ़ापा आता,
वैसे देह बदलती रहती,
धीर न पड़ते कभी मोह में।

14 इन्द्रियस्पर्श जन्य सब सुख दुख,
शीत उष्ण, आते जाते हैं।
सब अनित्य हैं, प्यारे अर्जुन!
अनासक्त हो इन्हें भोग-तज।

15 सुख दुख में सम, धीर पुरुष जो
इन से कभी न विचलित होता,
पुरुष श्रेष्ठ ऐसा ही मानव
अमृत-भाव का अधिकारी है।

16 जो 'न' 'असत्' वह कहीं नहीं है,
जो 'सत्' वह सर्वत्र सर्वदा,
तत्व समझने वालों ने तो
जाना है रहस्य दोनों का।

17 वह अविनाशी निश्चय जानो
जिसका यह सारा प्रसार है।
उस अविनाशी का विनाश कब,
कोई, कैसे, कर सकता है?

18 उस अविनाशी, अप्रमेय के
नित्य शरीरी के शरीर सब,
नाशवान हैं बनते मिटते,
अतः पार्थ! जूझो, निस्संशय।

19 जो इसको हत्यारा जाने
या यह कहे कि यह हत होता,
दोनों बिल्कुल नहीं जानते.
यह न कभी हत या हत्यारा।

20 यह न कभी जनमे या बिनसे
यह न कभी होकर फिर होता।
जन्म मरण से परे नित्य यह,
देह नाश पर नष्ट न होता।

21 जो इस अविनाशी, अजन्म को
अविकारी को, नित्य तत्व को,
जान गया हो, पुरुष श्रेष्ठ वह,
किसे मारता या मरवाता।

22 जिस प्रकार घिस गये वस्त्र को
त्याग, नये धारण करता नर,
उस प्रकार घिस गई देह को
त्याग, अन्य अपनाता देही।

23 काट न सकते शस्त्र आत्म को,
आग न इसको कभी जलाती,
पानी इसे न गीला करता,
हवा न इसको सूखा करती।

24 यह न कट सके, यह न जल सके,
यह न कभी गीला सूखा हो,
सदा सभी में, नित्य सनातन
निज में स्थित, यह अविचल आत्मा।

25 यह न व्यक्त है, यह न चिन्त्य है,
विकृति रहित है, अविचल आत्मा।
इस स्वरूप को समझ, स्वस्थ हो,
शोक ताप को त्यागो, अर्जुन!

26 यही मान लें जन्म नित्य है,
मरण नित्य, यदि यही मान लें,
फिर भी हे वीरोत्तम, अर्जुन!
शोक न तुम को शोभा देता।

27 जो जनमे वह निश्चित मरता,
जो मरता वह निश्चित जनमे,
अटल नियम यह नियति चक्र का,
इसमें शोक निरर्थक अर्जुन।

28 आदि अन्त अव्यक्त जीव के,
जन्ममरणमय मध्य व्यक्त बस,
इस अबूझ, अव्यक्त, नियति पर
व्यर्थ शोक है, व्यर्थ विलपना।

29 चकित देखता कोई इसको,
चकित चित्त कोई बखानता,
चकित हुआ सुनता है कोई,
सुनकर भी क्या इसे जानता!

30 हे अर्जुन! सब ही देहों में
अजर अमर देही अवध्य है।
इसीलिये इन सब जीवों पर
चिन्ता शोक सर्वथा अनुचित।

31 निज कर्तव्य विचारो तो भी
विचलित होना तुम्हें न शोभित,
धर्मयुद्ध से बढ़कर श्रेयस्
क्षत्रिय वीर नहीं पा सकता।

32 बड़े भाग्यशाली क्षत्रिय ही
ऐसा युद्ध-सुअवसर पाते,
अनायास ही अमर लोक का
द्वार, तुम्हारे लिये, खुला है।

33 औ' यदि तुम इस धर्मयुद्ध से
परे हटोगे, नहीं लड़ोगे,
धर्म, कीर्ति, दोनों को खोकर,
मात्र पाप के भागी होगे।

34 लोक निरन्तर अपयश देंगे,
कायर कह कर दुत्कारेंगे,
मान्य पुरुष के लिये तो सदा
अपयश मरणाधिक दुख देता।

35 तुम्हें 'मान्यवर' कहने वाले
तुच्छ समझ अपमान करेंगे,
महारथी रणभीरु कहेंगे,
कोई तुम्हें नहीं चाहेगा।

36 शत्रुपक्ष अनकही कहेंगे,
गाली देंगे, बड़ हाँकेंगे,
शूरवीरता धरी रहेगी,
इससे बड़ा दुःख क्या होगा?

37 उठो वीर! दृढ़ निश्चय धारो,
निस्संशय हो युद्ध करो तुम,
हार मरे तो स्वर्ग मिलेगा,
जीते तो सारी वसुन्धरा।

38 सुख दुख दोनों समकर जानो,
लाभ-हानि या विजय पराजय,
धर्म समझ कर युद्ध करो तुम,
ऐसे पाप नहीं व्यापेगा।

39 ये जो बातें अभी कहीं हैं
सांख्य-बुद्धि सम्मत हैं सब ही।
योग बुद्धि से भी सुन लो
तब, कर्म बन्ध को तोड़ सकोगे।

40 नष्ट न होता लघु प्रयास भी,
नहीं कभी उलटा फल देता,
कर्मयोग युत स्वल्प धर्म भी,
जन्म मरण के भय से रक्षक।

41 योग युक्त, दृढ़ निश्चय वाली,
एक बुद्धि ही होती, अर्जुन!
भोगासक्त प्रमत्त जनों की
भिन्न दिशायें, भिन्न बुद्धियाँ।

42-44 इस पुष्पित भाषा के वक्ता,
भोगासक्त, विवेक रहित जो,
'वेदवाद' में उलझे रहते,
'नहीं अन्य कुछ' जो कहते हैं,
जन्मान्तर में स्वर्ग सुखों के
फल के इच्छुक, ये कामात्मा,
कर्मकाण्ड की विविध क्रियाएँ
करने में ही चिन्तित रहते,
पुष्पित वाणी से अपहृत चित,
ऐसे भोगैश्वर्य, उपासक,
एकनिष्ठ, एकाग्रचित्त हो,
पहुँच न सकते परम ब्रह्म तक।

45 वेद त्रिगुण-विषयों तक सीमित,
त्रिगुणातीत बनो, हे अर्जुन!
द्वन्द्व रहित, नित सत्व में टिके,
अनासक्त हो योगक्षेम से।

46 सभी ओर जब जल ही जल हो
कूप वारि का यथा प्रयोजन,
ब्रह्म तत्व निष्णात के लिये
तथा प्रयोजन सब वेदों का।

47 मात्र कर्म के अधिकारी तुम,
नहीं कभी अधिकार फलों में,
निज को मत समझो फल कारक*
औ' न सक्त हो तुम अकर्म में।
(* कुछ विद्वान इस पंक्ति का "फल को मत उद्देश्य बनाओ" अर्थ करना पसन्द करते हैं।)

48 योग युक्त हो करो कर्म तुम,
सभी भाँति आसक्ति छोड़ कर,
लाभ हानि में रहो अविचलित,
अविचल भाव योग कहलाता।

49 हे अर्जुन! इस बुद्धि योग से
रहित कर्म सब ही निकृष्ट हैं।
बुद्धि योग की शरण गहो तुम,
फलासक्ति छोटा कर जाती।

50 बुद्धि योग निष्णात मनुज तो
पाप पुण्य को यहीं छोड़ता,
अतः योग के लिये जुटो तुम,
योग, कर्म कौशल कहलाता।

51 बुद्धि योग से युक्त मनीषी
कर्म जन्य फल यहीं छोड़ते,
जन्म मरण बन्धन विमुक्त हो,
पा लेते निष्कलुष मोक्षपद।

52 जब तुम, बुद्धियोग युत होकर,
मोह पंक से निकल सकोगे,
तभी लोक सुख या स्वर्गिक सुख,
दोनों से निर्वेद मिलेगा।

53 भाँति भाँति सिद्धान्त श्रवण कर
व्याकुल बुद्धि तुम्हारी, अर्जुन!
जब निश्चल समाधि-स्थित होगी
तभी योग को प्राप्त करोगे।'

54 पूछा अर्जुन ने :- 'हे केशव!
क्या परिभाषा स्थित-प्रज्ञ की?
समाधिस्थ का प्रवचन कैसा?
आसन कैसा? विचरण कैसा?'

55 कहा कृष्ण ने 'सुन प्रिय अर्जुन!
मनोकामनायें सब तज कर,
अपने में ही आत्मतुष्ट जो,
वही व्यक्ति स्थित-प्रज्ञ कहाता।

56 जो दुख में बेचैन न होता,
जो सुख में भी रहे शान्त मन,
जो आसक्ति क्रोध औ' मद से
रहित, वही स्थित-प्रज्ञ कहाता।

57 जो, शुभ अशुभ, परे दोनों से,
सभी जगह आसक्ति-रहित मन,
राग द्वेष दोनों से ऊपर,
वही व्यक्ति स्थित-प्रज्ञ कहाता।

58 जब समेट ले सभी इन्द्रियाँ
अपने अपने विषय भोग से,
जैसे अंग समेटे कछुआ,
तभी व्यक्ति स्थित-प्रज्ञ कहाता।

59 निराहार देही तो केवल
विषयों से हट ही सकता है,
पर आसक्ति तभी जाती
जब परम तत्त्व का दर्शन पाता।

60 सतत यत्न रत जो प्रबुद्ध जन
इन्द्रिय निग्रह करता रहता,
वह भी विचलित हो जाता है,
इन्द्रिय विषय प्रबल आकर्षक।

61 सभी इन्द्रियों को संयत कर,
समाधिस्थ जो प्रभु चरणों में,
अनासक्त इन्द्रिय विषयों से,
वही व्यक्ति, स्थित-प्रज्ञ कहाता।

62-63 जो विषयों के ध्यान में रहे,
वह आसक्ति दोष युत होता।
विषयासक्ति काम बन जाती,
काम-दग्ध वह, क्रोधी होता।
क्रोध बनाता मूढ़, व्यक्ति को,
मूढ़ व्यक्ति, स्मृति-विभ्रम पीड़ित,
स्मृति विभ्रम से नष्ट-बुद्धि वह,
बुद्धि नाश से स्वयं नष्ट हो।

64 पर जो आत्मवशी, साधक नर,
राग द्वेष से रहित, कर्म रत,
विषयों में विचरण करके भी,
रहता सदा प्रसन्न-चित्त ही।

65 पा लेता है जो प्रसन्नता
उसके सभी दूर होते दुख।
जो प्रसन्न चेता हो उसकी
बुद्धि शीघ्र स्थिर हो जाती है।

66 जो अवशेन्द्रिय बुद्धिहीन वह,
कहाँ भावना भी उस जन के?
बिना भावना कहाँ शान्ति?
औ' शान्ति नहीं तो कहाँ परम सुख?

67 विचर रहीं जब अवश इन्द्रियाँ
मन भी उनका करे अनुसरण,
तब तो बुद्धि हरण हो जाती,
जल में नाव प्रभंजन वश ज्यों।

68 इसी लिये, हे वीर पार्थ! सुन,
जिसके वश में सभी इन्द्रियाँ,
अनासक्त इन्द्रिय-विषयों से,
वही व्यक्ति स्थित-प्रज्ञ कहाता।

69 जो है रात सभी जीवों की
उसमें जागे सदा संयमी,
जिस में जाग रहे सब प्राणी
द्रष्टा मुनि की वही रात है।

70 नदियों के प्रवेश से भर कर
फिर भी सागर रहे अविचलित,
वैसे जिसमें सभी काम
सिमटें वह शान्त, नहीं कामी नर।

71 सभी कामनायें तज जो नर
विचरण करता, बिना स्पृहा के,
ममता तज, तज अहंकार को,
वही शान्ति पा लेता, अर्जुन!

72 यह ब्राह्मी स्थिति है, प्रिय अर्जुन!
पाकर इसे न भ्रम में पड़ता।
अन्त काल में भी इसमें ही
स्थित हो, मोक्ष प्राप्त करता है।

तीसरा अध्याय

(कर्म योग)

1-2 पूछा अर्जुन ने व्याकुल हो :-
'ज्ञान योग यदि बड़ा कर्म से
फिर क्यों मुझ को, हे जगरक्षक!
घोर कर्म-मल में धकेलते?
मिली जुली सी बातें कह कर
मुझे मोह में क्यों उलझाते?
स्पष्ट कहो, मुझको, हे केशव!
एक मार्ग जो श्रेयस्कर हो।'

3 कहा कृष्ण ने :- 'प्यारे अर्जुन!
दो निष्ठायें हैं इस जग में।
ज्ञान योग प्रिय है सांख्यों को,
योगी कर्म योग पर चलते।

4 मात्र कर्म के अनारम्भ से
मनुज न हो पाता निष्कर्मी।
औ' न कर्म तज देने से ही
सिद्धि प्राप्त कर सकता मानव।

5 निस्सन्देह, एक पल भी नर
रह न सके कुछ कर्म किये बिन,
प्रकृति जन्य गुण से प्रेरित हो
सभी अवश कर्मों में रत हैं।

6 संयत कर कर्मेन्द्रिय को जो
मन से विषय वासना में रत,
वह मूढ़ात्मा, मिथ्याचारी,
नहीं संयमी कहला सकता।

7 पर, अर्जुन! जो संयतमन हो,
कर्मेन्द्रिय से कर्म में लगा,
अनासक्त योगी ही जानो,
वही श्रेष्ठ कहला सकता है।

8 निज कर्तव्य करो तुम, अर्जुन!
अकर्मण्य से श्रेष्ठ कर्मरत।
कर्म किये बिन तो, प्रिय अर्जुन!
देह धर्म निर्वाह न संभव।

9 यज्ञ भाव से रहित कर्म सब
बन्धन कारक ही होते है।
अनासक्त हो, यज्ञ भाव से
करो कर्म तुम, नहीं बँधोगे।

10 यज्ञसहित सब प्रजा सृजन कर,
आदिकाल में, स्रष्टा बोले :-
यज्ञकर्म से बढ़ो, फलो तुम।
यज्ञभाव इच्छित फल दायक।

11 करो तुष्ट इस से देवों को,
देव तुष्ट हो, तुम्हें तुष्टि दें,
एक दूसरे को तोषित कर,
परम श्रेय दोनों पावो तुम।

12 यज्ञभाव-परितुष्ट देवगण
इच्छित भोग तुम्हें देवेंगे।
पर जो उनके दिये भोग को
बिना दिये भोगे, वह पापी।

13 यज्ञभाव से बचा हुआ
खाकर साधक पापों से बचते।
पर जो पापी निज भोजन हित
अन्न पकाते, अघभक्षी वे।

14-15 प्राणी हों उत्पन्न अन्न से,
अन्न उपजता जलवर्षण से,
जलवर्षण होता यज्ञों से,
यज्ञ विहित कर्मों पर आश्रित।
विहित कर्म सब ब्रह्मजात हैं,
ब्रह्म स्वयं अक्षर से होता,
अतः सर्वभूतस्थ ब्रह्म भी
यज्ञ प्रतिष्ठित जानो, अर्जुन!

16 ऐसे चलते सृष्टि-चक्र का
जो न अनुसरण करता, पापी,
इन्द्रिय-भोगों में रम कर वह
जीवन व्यर्थ गँवा देता है।

17 पर जो सिद्ध पुरुष, आत्मारत,
आत्मतृप्त, सन्तुष्ट स्वयं में,
वही सच्चिदानन्द रूप नर,
आत्म मग्न, करणीय से परे।

18 नहीं प्रयोजन उसका कोई
कर्म-अकर्मों से इस जग के,
और न किसी जीव से कोई,
स्वार्थ सिद्धि का कभी प्रयोजन।

19 इससे, अर्जुन! अनासक्त हो
कार्यकर्म में लगो, स्वस्थ मन।
अनासक्त हो कर्मों में रत
मानव परम प्राप्त कर लेता।

20 निस्सन्देह कर्म कर के ही,
जनक आदि संसिद्धि पा गये।
लोक संग्रही धर्म-दृष्टि से
विहित कर्म करना ही समुचित।

21 जिस जिस भाँति श्रेष्ठ जन विचरें
वही अनुसरण करें अन्य जन।
जो जो मान्य श्रेष्ठ जन को हो
वही आचरण करें, शेष सब।

22 हे अर्जुन! तीनों लोकों में
है न मुझे कर्तव्य कर्म कुछ।
नहीं प्राप्य, जो प्राप्त नहीं,
फिर भी मैं रत रहता कर्मों में।

23 जो न रत रहूँ सावधान हो
कर्मों के आचरण में सतत,
मेरा पथ अनुसरण करेंगे
सभी भाँति सब लोग यहाँ पर।

24 जो न करूँ मैं कर्म लोक सब
नष्ट भ्रष्ट औ' पीड़ित होंगे,
सभी व्यवस्था बिगड़ जायगी,
मैं विनाश का हेतु बनूँगा।

25 हे अर्जुन! जैसे अज्ञानी
रहते हैं आसक्त कर्म में,
वैसे ज्ञानी, अनासक्त हो,
लोक हितार्थ, रमे कर्मों में।

26 कर्मासक्त अज्ञजन को भी
बुद्धि भेद में ना उलझावे।
योगयुक्त हो स्वयं करे सब,
उन से भी सब कर्म करावे।

27 अहंबुद्धि रत, मूढ़ समझता
वही सभी कर्मों का कर्ता,
वास्तव में सब कर्म हो रहे
प्रकृति जन्य गुणग्राम से स्वयं।

28 गुणों और कर्मों के सारे
भेद समझने वाला ज्ञानी,
खेल गुणों का, जान, गुणों में,
अनासक्त हो देखा करता।

29 प्रकृति गुणों से मोहित मानव
गुण कर्मों में उलझे रहते,
ज्ञानहीन उन मन्द जनों को
कभी न विचलित करें विज्ञजन।

30 गुण कर्मों की प्रकृति को समझ,
सभी कर्म प्रभु को अर्पण कर,
आशा, ममता, क्लेश त्याग कर,
धर्मयुद्ध में जूझो, अर्जुन!

31 जो श्रद्धायुत, दोषदृष्टि तज,
मेरे इस मत को धारण कर,
सदा चलें उस पर, वे साधक,
होते मुक्त कर्म बन्धन से।

32 पर जो दोष दृष्टि युत रहते,
नहीं अनुसरण करते इसका,
सभी ज्ञान पाकर भी मोहित,
अविवेकी, विनष्ट होते हैं।

33 वास्तव में ज्ञानी भी करता
निज स्वभाव अनुरूप आचरण।
प्रकृति जन्य संस्कार प्रबल हैं,
यहाँ मात्र हठ क्या कर सकता?

34 सभी इन्द्रियों का विषयों में
राग द्वेष तो रहता ही है।
इनके कभी न वश में होवे
यही मार्ग बाधक मनुष्य के!

35 अन्य धर्म के परिपालन से
अपना विगुण धर्म भी श्रेयस्,
निधन श्रेष्ठ है अपने पथ पर,
पर का धर्म भयावह होता।

36 पूछा अर्जुन ने प्रभु से :-
'किस प्रबल प्रेरणावश, यह मानव
बिन चाहे ही पापकर्म रत
होता है, ज्यों बल से योजित ?

37 बोले प्रभु :-'यह काम, क्रोध है
जो पैदा होता रजगुण से,
बहुभोगी यह, महापाप रत,
इसे शत्रु समझो तुम, अर्जुन।

38 जैसे अग्नि धूप से आवृत,
आवृत मल से दर्पण जैसे,
भ्रूण ढँका ज्यों गर्भाशय से,
वैसे ज्ञान, काम से आवृत।

39 आवृत ज्ञान किया है इसने
यह है नित्य-शत्रु ज्ञानी का
सदा अतृप्त काम यह, अर्जुन!
अग्निरूप है, जला रहा है।

40 यह अपना आवास बनाता
इन्द्रिय को, मन को औ' मति को
इन से ढँक लेता विवेक को,
मूढ़ बना देता मानव को।

41 अतः आदि में ही, प्रिय अर्जुन!
करो इन्द्रियों को तुम संयत।
दूर भगाओ इस पापी को
यह नाशक विज्ञान-ज्ञान का।

42 स्थूल देह से परे इन्द्रियाँ,
औ' मन परे इद्रियों से भी,
मन से परे बुद्धि औ' इससे
कहीं परे, वह आत्म तत्त्व है।

43 ऐसे बोध परात्पर का कर,
निज को निज से ही वश में कर,
दुर्जय शत्रु काम को जीतो,
यही मार्ग है कर्म योग का।

चौथा अध्याय

(ज्ञान कर्म संन्यास योग)

1 बोले प्रभु :-"यह अव्यय योग
कहा था मैंने विवस्वान से।
उसने मनु को कहा, तथा
मनु ने निजसुत इक्ष्वाकु को कहा।

2 यों परम्परा प्राप्त योग को
राज ऋषि जाना करते थे।
हे अर्जुन! फिर महाकालवश
यह सब योग विलीन हो गया।

3 वही पुरातन योग, तुम्हें अब,
बतलाया है मैंने, अर्जुन!
तुम हो मेरे भक्त, सखा भी
औ' यह उत्तम गुह्य ज्ञान है।

4 शंकित से अर्जुन ने पूछा :-
"रवि 'तब' जन्मा, आप 'अब' हुए
योग आपने दिया उसे, यह
किस प्रकार, मैं समझ न पाया।"

5 कहा कृष्ण ने : 'भोले अर्जुन!
हम तुम कई बार जनमे हैं
मुझे सभी कुछ ज्ञात, पर तुम्हें
किसी जन्म का ज्ञान नहीं है।

6 यद्यपि मैं अजन्म, अविकारी,
सभी प्राणियों का परमेश्वर;
फिर भी निजी प्रकृति-माया से
बहुधा प्रकट हुआ करता हूँ।

7 जब जब धर्म क्षीण होता है,
जब जब बढ़े अधर्म जगत में,
तभी तभी मैं, धर्म त्राण हित,
अपना सृजन किया करता हूँ।

8 साधु जनों के परित्राण हित,
दुष्ट जनों के नाश के लिये,
युग युग प्रकट हुआ करता हूँ
पुनः धर्म स्थापित करने हित।

9 ऐसे मेरे जन्मकर्म के
दिव्यभाव का तत्त्व समझता
जो प्राणी, वह देह त्याग पर
पुनः न जनमे, मुझमय होता।

10 राग, क्रोध, भय से विमुक्त हो
मेरे रूप, आसरे मेरे,
ज्ञान रूप तप से पवित्र हो,
मुझ में लीन हुए बहुतेरे।

11 जो जैसे आराधें मुझ को
उसी रूप में उनको मिलता,
हे अर्जुन! जिस किसी भाँति
सब मेरा मार्ग अनुसरण करते।

12 कर्म सिद्धियों के आकांक्षी
भिन्न भिन्न देवों को भजते,
मनुज लोक में कर्म-सिद्धियाँ
बहुत शीघ्र पूरी होती हैं।

13 गुण-कर्मों के भेद मुताबिक
चार वर्ण मैंने सिरजे हैं।
उनका कर्ता होकर भी मैं
कर्मरहित, अविकारी समझो।

14 लिप्त न करते मुझे कर्म
औ' नहीं कर्मफल में मेरी रुचि,
इस प्रकार जो मुझे जानता
वह न कभी बँधता कर्मों से।

15 मोक्षाकांक्षी पुराकाल के
यही जान कर कर्म निरत थे।
तुम भी वैसे कर्म करो
जो पुराकाल के करते आये।

16 क्या है कर्म, अकर्म, समझना
बड़ा कठिन बहुश्रुत कवि को भी।
वही तुम्हें कहता हूँ जिसको
जान, बचोगे तुम पापों से।

17 कर्म, अकर्म, विकर्म सभी का
भेद समझना आवश्यक है।
कब क्या कार्य, अकार्य वही कब
अति दुष्कर है, इसे जानना।

18 जो अकर्म देखता कर्म में,
औ' अकर्म में कर्म देखता,
वही योगयुत, ज्ञानवान वह,
वही सभी कर्मों का कर्ता।

19 जिस मानव के कार्यकर्म सब
फलासक्ति औ' अहं से रहित,
ज्ञान अग्नि में दग्ध कर्म जो,
उसको पण्डित कहते बुधजन।

20 अनासक्त जो कर्मफलों से,
आत्म तुष्ट, अपने पर आश्रित,
कर्मों में लगकर भी वह नर
कुछ भी कर्म नहीं करता है।

21 जो आशा से रहित, संयमी,
सभी भाँति संग्रह का त्यागी,
दैहिक कर्म सभी करके भी,
वह निर्दोष बना रहता है।

22 तुष्ट सदा जो यथालाभ से,
ईर्ष्या रहित परे द्वन्द्वों से,
लाभ हानि में जो समान चित,
कर्म निरत फिर भी विमुक्त वह।

23 संग रहित जो सदा, मुक्त जो,
आत्मज्ञान में स्थित चेतस् जो,
कर्म करे जो यज्ञ के लिये,
उसके सभी कर्म मिट जाते।

24 ब्रह्म समझता जो अर्पण को,
द्रव्य अग्नि औ' आहुति को भी,
ब्रह्म कर्म में ही समाधिरत,
ब्रह्म भाव ही पा लेता है।

25 कुछ ऐसे योगी जन हैं जो
देव यज्ञ में रत रहते हैं
और अन्य कुछ ब्रह्म अग्नि में
यज्ञों द्वारा यज्ञ होमते।

26 कुछ श्रोत्रादि इन्द्रियों की ही
संयमाग्नि में आहुति देते
शब्द आदि विषयों की कोई
आहुति देते इन्द्रियाग्नि में।

27 कुछ हैं जो संपूर्ण क्रियायें
लेकर इन्द्रिय की प्राणों की
ज्ञान प्रदीप्त आत्म संयम की
योग अग्नि में होम डालते।

28 कुछ हैं द्रव्य यज्ञ करते, कुछ
तप करते, कुछ योग यज्ञ को,
कुछ स्वाध्याय यज्ञ करते, कुछ
ज्ञान यज्ञ, सब कठिन व्रत धनी।

29 कुछ अपान में प्राण होमते,
कुछ अपान होमते प्राण में,
कुछ दोनों का अवरोधन कर
रहते प्राणायाम यज्ञ रत।

30 कुछ हैं जो नियमित आहारी
प्राणों को होमते प्राण में,
यज्ञों द्वारा क्षयित पाप सब
ये सब हैं यज्ञों के ज्ञाता।

31 यज्ञों से अवशिष्ट अमृत खा
ब्रह्म सनातन को पा लेते
जो न यज्ञ करता उसका, यह
लोक नहीं, परलोक कहाँ फिर?

32 इस प्रकार से विविध भाँति के
यज्ञ वेद में विस्तृत वर्णित,
ये सब कर्म जन्य ही जानो
ऐसा ज्ञान मोक्ष पावोगे।

33 सभी भाँति के द्रव्य यज्ञ से
ज्ञान यज्ञ श्रेयस्कर, अर्जुन!
सब कर्मों का पूर्णरूप से
पर्यवसान ज्ञान में होता।

34 इसे जान सच्ची विनम्रता,
सेवा से औ' जिज्ञासा से
तत्त्व ज्ञान के द्रष्टा ही
यह ज्ञान तुम्हें सब दे सकते हैं।

35 यह वह ज्ञान जिसे पाकर तुम
पुनः मोह में नहीं पड़ोगे,
सभी जीव निज में देखोगे,
देखोगे फिर सब को मुझ में।

36 औ' यदि तुम हो भी पापात्मा,
सभी पापियों से भी बढ़ कर,
फिर भी ज्ञान-पोत यह निश्चय
भवसागर से पार करेगा।

37 जिस प्रकार सारे ईंधन को
ज्वलित अग्नि भस्मित कर देती
उसी भाँति यह ज्ञान अग्नि भी
करती भस्म सभी कर्मों को।

38 हे अर्जुन! इस ज्ञान के सदृश
कुछ भी नहीं जगत में पावन,
इसे योग में सिद्ध मनुज,
पा लेता, निज में, उचित समय पर।

39 ज्ञान प्राप्त होता श्रद्धा से,
तत्परता से औ' संयम से,
पाकर के यह ज्ञान, शीघ्र ही
परम शान्ति को पा लेता है।

40 जो अविवेकी, संशयात्म जो,
श्रद्धा रहित नष्ट होता है,
संशय ग्रस्त न सुख पा सकता
लोक और परलोक गँवाता।

41 हे अर्जुन! जिस योगनिष्ठ ने
संशय छेदन किया ज्ञान से,
सभी कर्म प्रभु को अर्पण कर,
सदा मुक्त वह कर्म जाल से।

42 अतः उठो, त्यागो संशय को,
यह संशय अज्ञान जन्य है।
ज्ञान खड्ग से काटो इसको,
योगयुक्त हो करो युद्ध तुम।

पाँचवां अध्याय

(कर्म संन्यास योग)

1 कहा पार्थ ने :-'हे प्रभु! तुम ने
कर्मों का संन्यास सराहा,
पुनः सराहा कर्मयोग को,
निश्चित कहो, श्रेयप्रद क्या है?

2 बोले प्रभु :-'दोनों ही अच्छे,
कर्मयोग भी, कर्मत्याग भी,
पर दोनों में कर्मयोग ही
अधिक श्रेयप्रद निश्चित जानो।

3 द्वेष रहित, जो रहित कामना,
उसे सदा संन्यासी जानो।
द्वन्द्व रहित वह, निश्चय अर्जुन!
सुख से बन्धमुक्त होता है।

4 'सांख्य पृथक् है, योग पृथक् है'
कहते अज्ञ, नहीं ज्ञानी जन।
एक मार्ग पर भी सम्यक् चल
दोनों का फल पाता मानव।

5 जो पाता है सांख्य मार्ग से
योग मार्ग से भी वह पाता।
जो दोनों को एक देखता
वही देखता है यथार्थ में।

6 योगयुक्त जो नहीं, पार्थ!
है कठिन उसे संन्यासी होना।
योगयुक्त जो मननशील है
वह अविलम्ब ब्रह्म पा लेता।

7 योगयुक्त जो शुद्धचित्त है,
जीता जिसने मन इन्द्रिय को,
जीव मात्र में आत्मभाव युत,
सब कर के भी लिप्त न होता।

8-9 श्रवण, स्पर्श, अवलोकन, भोजन,
स्वप्न, श्वसन, या गमन, सूँघना,
त्याग, ग्रहण, भाषण, आँखों का
मीलन या उन्मीलन करना,
'इन्द्रिय निज विषयों में रत हैं'
ऐसी जिसकी बनी धारणा,
तत्त्व जानता ऐसा योगी
निज को कर्ता कभी न माने।

10 सभी कर्म प्रभु को अर्पण कर,
अनासक्त हो कर्म निरत जो,
वह न लिप्त होता पापों से,
जैसे जल में कमल पत्र हो।

11 काया, मन या मात्र बुद्धि से,
अन्य इन्द्रियों से भी, योगी
कर्म किया करते हैं, पर हो
अनासक्त निज चित्त शुद्धि हित।

12 अनासक्त कर्मों के फल से,
योगी पाता परम शान्ति को।
पर अयुक्त जो फलासक्त है,
कामपाश में वह बँध जाता।

13 नौ द्वारों वाले इस घर में
बिना किये कुछ या करवाये,
मन से सब कर्मों को तज कर,
सुख से रहता सदा संयमी।

14 कर्म, कर्मफल या कर्तापन
प्रभु न सृजन करता जीवों के,
यह सब होता है स्वभाव वश,
वही प्रवर्तक है इन सब का।

15 प्रभु न ग्रहण करता जीवों के
पाप कर्म या पुण्य कर्म को,
है छाया अज्ञान ज्ञान पर,
जिससे मोहग्रस्त होते वे।

16 पर जिन का अज्ञान अँधेरा
नष्ट हुआ है आत्मज्ञान से,
ज्ञान सूर्य की दीप्ति ही उन्हें
परम तत्त्व को दर्शाती है।

17 नष्ट पाप वे तत्त्वज्ञान से,
प्रभुमय मन प्रभुनिष्ठ, प्रभुशरण,
पूर्णभाव से परम परायण,
आवागमन मुक्त होते हैं।

18 विद्या विनय युक्त ब्राह्मण हो,
गोमाता हो या हाथी हो,
कूकर हो या कूकरपाचक,
सब में समदर्शी पण्डित जन।

19 साम्य भाव में हैं स्थिर मन जो
जन्म मृत्यु से परे यहीं वे
दोष रहित सम ब्रह्म, इसी से
सदा ब्रह्म में रहें अवस्थित।

20 जो स्थिरबुद्धि, मोह से सूना,
ब्रह्मज्ञान युत, सदा ब्रह्म रत,
प्रिय मिलने पर नहीं उछलता,
नहीं विकल होता अप्रिय से।

21 बाह्य विषय में अनासक्त जो
आत्मानन्द प्राप्त करता है,
ब्रह्म परायण मानव भी, वह
अक्षय सुख आनन्द भोगता।

22 विषय-जन्य जो भोग, सभी वे
अस्थायी हैं, बनते मिटते,
अन्त दुखों के उत्पादक वे,
नहीं रमण करते उनमें बुध।

23 जो शरीर तजने से पहले,
इसी लोक में इसी देह में,
काम क्रोध का वेग सह सके
वही सुखी वह मानव योगी।

24 जो आलोकित आत्मज्योति से,
आत्म निरत जो आत्म में सुखी,
ब्रह्मरूप होकर वह योगी
ब्रह्मानन्द प्राप्त करता है।

25 नष्टपाप, जो रहित द्वन्द्व से,
आत्मसंयमी, ऐसे ऋषि गण,
सभी प्राणियों के हित में रत,
ब्रह्मानन्द प्राप्त करते हैं।

26 काम क्रोध से रहित, संयमी,
आत्मज्ञान युत, सच्चे योगी,
सदा ब्रह्ममय ही होते हैं।
ब्रह्मानन्द सर्वदिक् उनके।

27-28 बाह्य विषय को बाहर ही तज,
दृष्टि भृकुटियों में केन्द्रित कर,
नासा भीतर चलने वाले
प्राण-अपान श्वास को समकर,
इन्द्रिय मन औ' बुद्धि जीत कर,
मोक्ष परायण, मनन शील जो,
इच्छा, भय औ' क्रोध से रहित,
सदा मुक्त ही उसको जानो।

29 सभी तपों का, यज्ञकर्म का,
सब लोकों का, सब जीवों का,
जो मुझ को ही भोक्ता जाने
निश्चय वही शान्ति पाता है।

छठा अध्याय

(आत्म संयम योग)

- या-

(ध्यान योग)

1 जो करणीय कर्म करता है,
बिना कर्म फल के आश्रय से,
है वह संन्यासी, वह योगी,
वह न तजे जो अग्नि कर्म को।

2 जो संन्यास कहा जाता है
उसे योग भी जानो, अर्जुन!
बिना तजे संकल्प भाव के
योगी नहीं हुआ जा सकता।

3 योग प्राप्ति के इच्छुक, मुनि को
विहित कर्म करना ही साधन,
योग प्राप्त हो जाने पर तो
शम ही साधन रह जाता है।

4 जब न रमें इन्द्रिय विषयों में,
अनासक्त हो कर्मजाल से,
जब सब संकल्पों को तज दे,
तब वह योगारूढ कहाता।

5 निज से ही निज को उद्धारे,
अधःपतन से सदा बचाये,
स्वयं आप ही अपना बान्धव,
अपना वैरी स्वयं आप ही।

6 वही बन्धु है आत्मा, जिसने
जीत लिया निज को निज से ही,
किन्तु अजित आत्मा, आत्मा का
निस्सन्देह शत्रु हो जाता।

7 जीत लिया है आत्मा जिसने,
परमात्मा में सदा समाहित,
शीत उष्ण, सुख दुख, यश अपयश,
सब द्वन्द्वों में सदा शान्त मन।

8 अन्तस्तृप्त सगुण-निर्गुण से
जो हो निर्विकार, इन्द्रियजित,
लौह-सुवर्ण रत्न-पत्थर को
समकर जाने, वह योगी है।

9 मित्र, शत्रु औ' उदासीन में,
द्वेष्य, बन्धु या मध्यस्थों में,
पापी में या धर्मात्मा में,
जो समबुद्धि, श्रेष्ठ वह योगी।

10 आशा रहित, परिग्रह तज कर,
मन इन्द्रिय को वश में कर के,
एकाकी स्थित होकर, योगी
सदा सच्चिदानन्द निरत हो।

11-12 योगी को है उचित कि वह नित
आसन, कुशा, अजिन वस्त्रावृत,
थापे ऐसी शुद्ध भूमि पर
जो न अधिक ऊँची नीची हो,
वहाँ बैठ, कर संयत निज मन,
इन्द्रिय चित्त क्रियायें वश कर,
आत्म शुद्धि-हित, शान्त भाव से
योगाभ्यास करे, नित योगी।

13-14 काया, शिर, ग्रीवा को सम कर
धारण करे अचल, स्थिर होकर,
दसों दिशाओं को बिन देखे,
नासिकाग्र पर दृष्टि टिका कर,
निर्भय होकर शान्त चित्त मन,
ब्रह्मचर्य व्रत का पालन कर,
मुझ में ध्यान लगा कर, योगी
परम परायण होकर बैठे।

15 इस प्रकार वश में कर मन को,
सदा आत्म को मुझ में स्थित कर,
योगमग्न रहता है योगी,
परमशान्ति को पा लेता है।

16-17 योग न पा सकता बहुभक्षी,
निराहार भी दूर योग से,
बहुत शयन या बहुत जागरण
दोनों ही से योग न संभव।
संयत भोजन और आचरण,
संयत शयन, जागरण, दोनों,
संयत कर्म निरत होकर ही
योग दुःखभंजक होता है।

18 भलीभाँति नियमित हो जब मन
आत्मा में ही स्थिर होता है
सभी कामनाओं से निस्पृह
तभी योगयुत कहलाता है।

19 जिस प्रकार निर्वात स्थान में
दीप ज्योति निज में स्थिर होती,
निज में स्थिर, संयत मन, योगी
उस से ही उपमित होता है।

20-23 जहाँ योग सेवन से, संयत
चित्त, शान्त होता जाता है,
जहाँ आत्म आत्मा का दर्शक
होकर, आत्मतुष्ट होता है,
जहाँ इन्द्रियातीत, परमसुख,
बुद्धिगम्य, अनुभव करता है,
कभी न विचलित होता हो
जिस तत्त्व ज्ञान में सुस्थित होकर,
जिसे प्राप्त कर, उससे बढ़कर,
किसी प्राप्ति को नहीं मानता,
जिसमें स्थित हो, बहुत बड़े
दुख से भी कभी न विचलित होता,
वह जो दुख से रहित परम सुख
उसे योग जानो, प्रिय अर्जुन!
उसी योग में रमो, सुदृढ़ मन से,
धीरज से औ' निष्ठा से।

24-25 संकल्पों से उपजी सारी
इच्छाओं को त्याग पूर्णतः,
दृढ़ मन से, नियमन में कर के
सभी ओर से सभी इन्द्रियाँ;
धीरे, धीरे, धीर बुद्धि से
उपरत औ' स्थिर होता जावे
मन को अपने में ही स्थित कर
सब प्रकार की चिन्ता छोड़े।

26 जहाँ जहाँ चंचल औ' अस्थिर
यह मन भाग भाग कर जाता,
वहाँ वहाँ से इसे हटा कर,
आत्मा के ही वश में लावे।

27 पूर्ण शान्त मन, अनासक्त औ'
रजगुण रहित, योग में संयुत,
ब्रह्मरूप, निष्कल्मष, योगी
उत्तम सुख को पा लेता है।

28 सभी तरह से दोषमुक्त
औ' योगयुक्त तो सहज भाव से,
परम ब्रह्म में निरत सदा ही,
आत्यन्तिक सुख पा लेता है।

29 सब जीवों में निज को देखे,
सब जीवों को देखे निज में,
योगयुक्त आत्मा वाला तो
सभी जगह समदर्शी होता।

30 जो मुझ को ही सब में देखे,
औ' सब को ही देखे मुझ में,
मैं न कभी उस से ओझल हूँ,
वह न कभी ओझल हो मुझ से।

31 सभी प्राणियों में स्थित मुझ को
एक भाव हो कर भजता जो,
सब प्रकार बर्ताव करे, फिर
भी, वह योगी मुझ में ही स्थित।

32 हे अर्जुन! जो सब जीवों के
सुख दुख को, अपने समान ही
अपने ही सुख दुख कर जाने,
ऐसा योगी सर्वोत्तम है।

33 अर्जुन बोला :-"हे प्रभु! तुमने
यह जो साम्य योग बतलाया,
मन की चंचलतावश इसकी
स्थिरता बहुत कठिन लगती है।

34 हे प्रभु! मन चंचल तो है ही,
यह बलवान वायु ज्यों अस्थिर,
मथ देता है यह मनुष्य को,
इसका निग्रह अति दुष्कर है।

35 प्रभु बोले :-निस्संशय, अर्जुन!
मन चंचल अति दुर्निवार है,
फिर भी, सतत यत्न से औ'
वैराग्य भाव से, यह स्थिर होता।

36 जो न संयमी हो उसको तो
योग प्राप्ति अति दुष्कर जानो,
संयत मन, अभ्यास शील को
सतत साधना से, सब संभव।

37 फिर पूछा अर्जुन ने :-"हे प्रभु!
जो जन श्रद्धायुत होकर भी
चंचलमन वश योगभ्रष्ट हो,
सिद्धि न पाये, उसकी क्या गति?

38 छिन्न भिन्न बादल सा, क्या वह
लोक और परलोक गँवाता?
योगमार्ग से भटक गये को
क्या केवल विनाश मिलता है?

39 इस संशय को दूर करो, प्रभु!
संशय नाश तुम्हीं से संभव,
हे प्रभु! तुम बिन इस संशय का
पूर्ण-विनाश न अन्य कर सकें।"

40 प्रभु बोले :-'प्रिय अर्जुन! उसका,
लोक और परलोक कहीं भी,
नाश न संभव; सत्कर्मी तो
निश्चय कभी न दुर्गति पाता।

41 योग भ्रष्ट भी योगी बरसों
पुण्य प्राप्त उत्तम लोकों में
रह कर, पुनः जन्म लेता है
सात्विक श्रीयुत परिवारों में।

42 अथवा, वह जा पैदा होता
बुद्धिमान योगी के कुल में,
ऐसा जन्म, किन्तु, इस जग में
बहुत अधिक दुर्लभ होता है।

43 लेकर जन्म वहाँ वह साधक,
पूर्वजन्म के बुद्धि योग को
पाकर, पुनः यत्न करता है
पूर्णयोग की सिद्धि के लिये।

44 पूर्वजन्म संस्कार, प्रबल हो
बरबस ले जाते उसको हर,
मात्र योग की जिज्ञासा से
शब्द ब्रह्म का अतिक्रम करता।

45 सतत साधना से प्रयास रत,
पापरहित होकर के योगी,
कई जन्म के संस्कारों वश,
परमागति को पा लेता है।

46 तपोनिष्ठ से उत्तम योगी,
उत्तम योगी ज्ञानवान से,
कर्म शील से भी वह उत्तम,
अतः बनो योगी तुम, अर्जुन।

47 सभी योगियों में से भी, प्रिय!
वह जो मुझ में सदा निरत है,
सतत भजन करता श्रद्धा से,
वह मेरे मत में सर्वोत्तम।

सातवाँ अध्याय

(ज्ञान विज्ञान योग)

1 मुझ में हो अनुरक्त चित्त,
मेरे आश्रित औ' योगयुक्त हो,
जिस प्रकार, निस्संशय, मुझको
पूरा जान सको, वह सुन लो।

2 मैं तुम को संपूर्ण ज्ञान, विज्ञान सहित,
सब बतलाता हूँ,
जिसे जानकर, यहाँ अन्य कुछ
भी, ज्ञातव्य नहीं रहता है।

3 लाखों लोगों में कोई ही
योगसिद्धि हित यत्नशील हो,
यत्नशील सिद्धों में भी
कोई ही मुझे तत्त्वतः जाने।

4 पृथ्वी जल औ' अग्नि, वायु,
आकाश, बुद्धि, मन, अहंकार, ये
आठ भेद हैं यहाँ प्रकृति मेरी के,
जिन पर यह जग निर्भर।

(1) स्थूल शरीर
(2) सूक्ष्म "
(3) कारण "

5 यह तो अपरा प्रकृति सृष्टिमय,
परे अन्य ही परा प्रकृति है।
जो जीवों का जीवन है,
जो जग का धारण करती, अर्जुन!

6 इन से ही सब जीव जनमते,
बढ़ते, मिटते, रहते, अर्जुन!
मैं ही सारी सृष्टि-क्रिया का
सृष्टि मूल भी औ' लयस्थल भी।

7 नहीं परे मुझ से कुछ भी तो
मैं ही अपर, परात्पर मैं ही।
मुझ में सभी पिरोये ऐसे
जैसे धागे में मणियाँ हों।

8 मैं ही सभी जलों का रस हूँ,
मैं ही प्रभा, सूर्य औ' शशि की,
सब वेदों का प्रणव 'ओम्' मैं,
शब्द गगन का, नर का पौरुष।

9 मैं ही पावन गन्ध धरा की,
तेज अग्नि का, तपियों का तप,
सभी चराचर जीवों का जीवन भी
मैं ही, प्यारे अर्जुन!

10 इस संपूर्ण सृजन का मुझको
बीज सनातन जानो, अर्जुन!
मैं ही बुद्धि बुद्धिमानों की,
तेजस भी तेजस्वी जनों का।

11 कामासक्ति रहित बलवानों का
बल भी मैं ही, प्रिय अर्जुन!
जो अविरोधी धर्म भाव का
वही काम सब जीवों में मैं

12 जो भी सात्विक, राजस, तामस,
तीन भाव हैं सब जीवों में।
वे मुझ से ही बने, किन्तु मैं
उनमें नहीं, नहीं वे मुझ में।

13 तीन गुणों के इन भावों से
यह सारा जग मोहित रहता।
नहीं जान पाता अव्यय को,
त्रिगुणातीत, परात्पर, मुझ को।

14 त्रिगुणमयी यह मेरी दैवी माया
अति दुस्तर है, अर्जुन!
जो मेरे शरणागत होते
माया को तर जाते हैं वे।

15 जिनका प्राण हरा माया ने,
जो आसुरी भाव के आश्रित,
जो दुष्कर्मी, मूढ़, नराधम,
मेरी शरण नहीं आते वे।

16 चार भाँति के सत्कर्मीजन
मेरा भजन किया करते हैं
बहुत दुखी, जिज्ञासु, अर्थप्रिय
औ' चौथा ज्ञानी, प्रिय अर्जुन!

17 इनमें, नित्य योग युत ज्ञानी
भक्तिभाव रत, सर्वश्रेष्ठ है।
मैं हूँ उसको सदा परम प्रिय
मुझ को भी वह अतिशय प्रिय है।

18 हैं उदार चारों, मेरे मत,
ज्ञानी तो मेरी आत्मा है।
निश्चय ही वह योगी मुझ में,
सर्वोत्तम गति में, स्थित होता।

19 कई जन्म के बाद, शरण मेरे
ज्ञानी जन आ पाता है
"यह सब वासुदेव ही है" जो यह जाने,
वह तो अति दुर्लभ।

20 अपहृत ज्ञान कामनाओं वश,
कई विविध देवों को भजते,
निजस्वभाव से प्रेरित होकर,
इन उन के नियमों में बँधकर।

21 पर जिस जिस भी देवरूप का
श्रद्धायुत वे पूजन करते,
उसी उसी में, मैं उनकी
श्रद्धा को अचल बना देता हूँ।

22 वे उस उस की श्रद्धा से युत,
उसी देव का आराधन कर,
निजी कामना पा ही लेते,
मेरे ही विधान के भीतर।

23 अल्पबुद्धि वाले वे, उनको
फल भी नाशवान ही मिलता।
देवाराधक देवलोक पाते,
मुझ को मेरे आराधक।

24 अल्पबुद्धि जन, नहीं जानते
मेरे अव्यय, परम भाव को।
मुझ अव्यक्त श्रेष्ठतम को वे
व्यक्तरूप माना करते हैं।

25 ढँका योगमाया से, मैं तो
नहीं अनावृत होता सब को,
मुझ अव्यय को, जन्मरहित को,
मोहमुग्ध नर, नहीं जानते।

26 जो थे, या हैं, या जो होंगे,
सभी प्राणियों को मैं जानूँ।
मैं त्रिकाल से परे, अतः,
कोई भी मुझ को नहीं जानता।

27 इच्छा, द्वेष आदि से प्रेरित,
द्वन्द्व मोह वश, सारे प्राणी,
सृष्टिचक्र में पड़े हुए सब,
मोहग्रस्त हो जाते, अर्जुन।

28 पर जो, सत्कर्मों के द्वारा,
पापपुञ्ज का क्षय कर देते,
द्वन्द्व मोह से मुक्त हुए वे
दृढ़व्रत हो, मुझको भजते हैं।

29 जन्म मरण से मुक्ति के लिये
मेरे आश्रित, जो प्रयत्न रत,
वे ही पूर्ण ब्रह्म वेत्ता हैं,
अखिल कर्म, अध्यात्म जानते।

30 जो अधिभूत तथा अधिदैवत
औ' अधियज्ञ सहित सब जानें
मुझको, वे योगी तो, अर्जुन!
मरण समय भी मुझ को जानें।

आठवाँ अध्याय

(अक्षर ब्रह्म योग)

1-2 बोला अर्जुन :-प्रभु कहिये,
क्या ब्रह्म, और अध्यात्म, कर्म क्या?
क्या अधिभूत तथा अधिदैवत?
कृपया इन सब को समझायें।
इस शरीर में, हे मधुसूदन!
क्या अधियज्ञ, यहाँ कैसे हैं?
अन्तकाल में, हे प्रभु! तुमको
कैसे जानें आत्मसंयमी?

3 प्रभु ने कहा :-परम अक्षर ही ब्रह्म,
और अध्यात्म भाव निज,
जीव भाव का उद्‌भावक जो
वही विसर्जन, कर्म कहाता।

4 क्षरणशील अधिभूत, तथा
अधिदैव पुरुष उस में, नर पुंगव।
सब देहों में, अन्तःसाक्षी,
मैं ही तो अधियज्ञ यहाँ हूँ।

5 अन्तकाल में जो भी प्राणी,
मेरा स्मरण करे, तन छोड़े,
वह मेरा स्वरूप हो जाता
कुछ भी संशय यहाँ नहीं है।

6 प्रिय अर्जुन! या यह भी कह लें
जिस भी भावस्मरण रत प्राणी
देह छोड़ता, उसी भाववश
परिणत होता उसी भाव में।

7 अतः सर्वदा सब कालों में
मुझको स्मरण करो औ' जूझो।
मुझ में अर्पित मनोबुद्धि तुम,
निस्संशय मुझको पावोगे।

8 जो अभ्यासी, योगयुक्त मन,
अन्य विषय में नहीं उलझता,
प्रभु का स्मरण मनन करता है,
वह पा लेता परम पुरुष को।

9-10 स्मरण मनन करता जो प्रभु का,
सर्वनियन्ता का, धाता का,
सूक्ष्मसूक्ष्म, चिन्तनातीत का,
नित्यज्योति का, कवि अनादि का,
अचल भक्तियुत अन्तकाल में,
भृकुटि मध्य प्राणों को स्थित कर,
पा लेता वह परम पुरुष को,
ज्योतिर्मय, सच्चिदानन्द को।

11 जिसे वेदवेत्ता बखानते,
अनासक्त योगी जो पाते,
ब्रह्मचर्य पालन जिस पद-हित,
वह थोड़े में बतलाता हूँ।

12-13 सभी इन्द्रियों को संयत कर,
मन को कर एकाग्र हृदय में,
भृकुटि मध्य प्राणों को स्थित कर,
योग धारणा में स्थिर होकर,
ॐ एकाक्षर ब्रह्मरूप का
जप करने औ' स्मरण में निरत,
जो जाता है देह छोड़ कर,
वह निश्चय परमागति पाता।

14 जो अनन्य मन होकर, मेरा
प्रतिदिन सतत स्मरण करता है,
ऐसा, नित्य योगयुत, प्राणी
मुझे सहज ही पा लेता है।

15 जो पा लेता मुझे महात्मा,
परम प्राप्ति वह पा लेता है।
इस दुखमय अनित्य संसृति के
जन्म मरण से बच जाता है।

16 ब्रह्मलोक से निम्न लोक तक
सभी, निरन्तर बनते-मिटते,
पर जो मुझे प्राप्त कर लेता,
वह न पुनः बनता या मिटता।

17 कोटि युगों तक ब्रह्मा का दिन,
कोटि युगों तक ब्रह्मा की निशि,
जो इनको जाने, वे ही जन
अहोरात्र विद् कहला सकते।

18 ब्रह्मा के दिन के आने पर,
सभी व्यक्त होते जड़ चेतन,
होते फिर अव्यक्त में विलय,
जब निशि हो जाती ब्रह्मा की।

19 वही भूत समुदाय, पृथा सुत!
होता रहता, हो हो मिटता,
होता पूर्ण विलीन रात में,
विवश जनमता-मरता दिन में।

20 पर इस सारे जड़ चेतन के,
सृष्टि-विलय, अव्यक्त से परे,
एक अन्य ही भाव सनातन,
जो न मिटे सब के मिटने पर।

21 वह अव्यक्त, वही अक्षर है,
वही परमगति कहलाता है,
जिसे प्राप्त कर नहीं लौटते
परमधाम वह ही मेरा है।

22 हे अर्जुन! जो पुरुष परात्पर,
जिस में हैं ये सभी चराचर,
जिस द्वारा यह व्याप्त सभी कुछ,
वह तो मिले अनन्य भक्ति से।

23 अब मैं तुम्हें बताता, अर्जुन!
काल भेद, जिन के वश, योगी
पुनः जन्म लेता रहता,
या आवागमन मुक्त हो जाता।

24 जो छह मास उत्तरायण के,
शुक्लपक्ष, दिन, ज्योतित ज्वाला,
जो इनमें प्रयाण करता है,
वह योगी फिर नहीं लौटता।

25 जो छह मास दक्षिणायन के,
कृष्णपक्ष औ' धूममयी निशि,
चन्द्रज्योति में जो जाता है
वह योगी जाता आता है।

26 शुक्ल, कृष्ण, ये दो गतियाँ हैं
देवयान औ' पितृयान की।
देवयानगत नहीं लौटता,
पितृयानगत जाता, आता।

27 हे अर्जुन! जो इन मार्गों को
जाने योगी, वह न कभी भी
मोहग्रस्त होता, इससे तुम
सब स्थितियों में योगयुत रहो।

28 वेद, यज्ञ, तप, दान आदि में
जो भी पुण्यलाभ होता है,
उस सब से आगे बढ़, योगी
यह सब जान परम पद पाता।

नवाँ अध्याय

(राज विद्या राजगुह्य योग)

1 प्रभु बोले :-'प्रिय अर्जुन! तुम हो
द्वेषभाव से रहित, तुम्हें मैं
ज्ञान और विज्ञान बताता हूँ,
जो मुक्त करे अशुभों से।

2 राज ज्ञान यह सब से गोपन,
अति पवित्र, यह सब से उत्तम,
यह प्रत्यक्षगम्य अति सुख से,
यह धर्मानुकूल, यह अव्यय।

3 जो इस धर्ममयी विद्या में
श्रद्धा रहित मनुज, प्रिय अर्जुन!
प्राप्त न होते मुझ को, पर वे
मर्त्य लोक में रहें भटकते।

4 मैं अव्यक्तमूर्ति, मुझ से ही
यह संसार प्रसार हुआ है।
सभी जीव मुझ में ही स्थित हैं
पर मैं उन पर नहीं अवस्थित।

5 देखो मेरा दिव्ययोग यह,
नहीं जीव सब मुझ में भी स्थित,
मैं जीवों का कर्ता भर्ता,
पर मैं उनमें नहीं अवस्थित।

6 सभी जगह आती जाती भी
जैसे वायु गगन में ही स्थित,
वैसे समझो, सभी जीव
मुझ में रहते, बनते, मिटते हैं।

7 कल्प बीतने पर सारे ही
जीव मुझी में लय हो जाते।
कल्प शुरू होने पर सब का
पुनः विसर्जन कर देता मैं।

8 निजी प्रकृति को आश्रित करके,
मैं फिर फिर सर्जन करता हूँ।
प्रकृतिपाश में विवश जीव सब
बार-बार बनते मिटते हैं।

9 अनासक्त, मैं, उदासीन सा,
ये सब कर्म किया करता हूँ।
इसीलिये, हे प्यारे अर्जुन!
ये सब मुझ को नहीं बाँधते।

10 मेरे ही अध्यक्षभाव में
प्रकृति नटी जड़ चेतन रचती।
इसी हेतु से, प्यारे अर्जुन!
सृष्टि चक्र चलता रहता है।

11 मुझे मनुज तनु आश्रित पाकर,
मूढ़ अवज्ञा करते मेरी।
नहीं जानते, मैं सब जीवों का
परमेश्वर, परमतत्त्व हूँ।

12 उनकी व्यर्थ सभी आशायें,
व्यर्थ ज्ञान औ' कर्म व्यर्थ सब
ज्ञानहीन वे, रहें मोह में,
असुर राक्षसी प्रकृति आसरे।

13-14 पर हे अर्जुन! महा पुरुष तो
देव प्रकृति का आश्रय लेते।
स्रष्टा, अव्यय, मुझे समझकर
करते आराधन, अनन्यमन,
सतत कीर्ति गाते वे मेरी,
सदा यत्न करते दृढ़ व्रत से,
सदा योगरत, भक्तिभाव से
नमन करें मेरी उपासना।

15 ज्ञानयज्ञ से यज्ञ रचाकर,
अन्य सदा करते उपासना,
एक भाव या द्वैत भाव
या विश्वभाव से भी मेरी ही।

16 मैं ही क्रतु, मैं यज्ञ, स्वधा मैं,
औषध, मंत्र, सभी कुछ मैं ही,
सामग्री, घृत आदि, यज्ञ की
मैं ही अग्नि और आहुति मैं।

17 मैं इस जग का पिता, पितामह
मैं ही धाता औ' माता हूँ।
मैं ही वेद्य, पवित्र ओम् हूँ,
मैं त्रिवेद, ऋक्, साम, यजुर्, मैं।

18 मैं इस जग का प्राण, शरण,
पालक, प्रभु, साक्षी तथा सुहृत्, सब,
मैं उत्पत्ति, प्रलय, स्थिति, अव्यय
संचयस्थल मैं बीज सनातन।

19 मैं तापक, वर्षा को मैं ही
रोके रखता या बरसाता
मैं ही अमृत, मृत्यु भी मैं ही
सदसत् भी मैं ही, प्रिय अर्जुन!

20 तीनों वेदों के वेत्ता, वे
सोम पान वाले, निष्पापी,
विविध यज्ञ करके, मुझ से
माँगा करते हैं स्वर्ग लोक को,
पुण्य कर्म-फल से पाकर वे
इन्द्राधिष्ठित स्वर्ग लोक को,
वहाँ स्वर्ग में दिव्य, अलौकिक,
देव-भोग, भोगा करते हैं।

21 स्वर्ग लोक में, वहाँ भोग कर
विविध भोग, अपने पुण्यों से,
पुण्यक्षीण होने पर, वापिस
मर्त्य लोक में आ जाते हैं।
इस प्रकार तीनों लोकों के
अनुयायी, सकाम कर्मी वे
विविध कामनाओं के वश हो
जन्म मरण के चक्र में रहें।

22 जो जन पूर्ण अनन्य भाव से,
करते नित मेरी उपासना,
नित्य योगयुत, उन भक्तों का
योगक्षेम मैं धारण करता।

23 पर जो भक्त अन्य देवों का
करते भजन, पूर्ण श्रद्धा से,
वे भोले, विधिहीन भाव से,
करते मेरी ही उपासना।

24 वास्तव में मैं ही भोक्ता हूँ
सब यज्ञों का, मैं ही स्वामी,
मुझे तत्त्वतः, नहीं जानते
अतः जनमते, मरते, रहते।

25 देवव्रती देवों को पाते,
पाते पितृव्रती पितरों को,
प्रेतव्रती प्रेतों को पाते,
मेरे भक्त मुझे पा लेते।

26 भक्तिभाव से जो भी मुझको
पत्र, पुष्प, फल या जल देता,
उस साधक की उसी वस्तु को
बड़े प्रेम से मैं लेता हूँ।

27 जो भी कर्म करो, जो खावो,
जो भी हवन करो, तुम अर्जुन!
जो भी दान, तप करो, वह सब,
करो मात्र मुझ को ही अर्पण।

28 योग युक्त संन्यासी मन से,
सब कुछ अर्पण कर देने से,
अच्छे बुरे कर्म बन्धन से,
मुक्त हुए, मुझ को पावोगे।

29 सब जीवों में मैं समान हूँ,
मुझे न कोई प्रिय या अप्रिय,
भक्ति भजन वाले विराजते
मुझ में, मैं उन में विराजता।

30 औ' यदि दुराचार रत भी नर
करे भजन मेरा अनन्य मन,
उसे साधु ही समझो, अर्जुन!
जो वह शुभ संकल्प लिये है।

31 बहुत शीघ्र वह धर्मात्मा बन
परम शान्ति को पा लेता है,
यह निश्चय जानो, प्रिय अर्जुन!
मेरा भक्त न कभी नष्ट हो।

32 हे अर्जुन! यदि पाप योनि भी,
नारी, वैश्य, शूद्र, कोई भी,
मेरा आश्रय ले, वह पाता
परम शान्ति को, परमागति को।

33 फिर पुण्यात्मा, भक्तिभाव युत,
ब्राह्मण, क्षत्रिय का कहना क्या?
अतः सुख रहित नश्वर जग में
मेरा भजन करो, प्रिय अर्जुन!

34 मन मुझ में कर, भक्ति यज्ञ भी
मेरा ही, कर, मुझे ही नमन,
योगयुक्त हो इस प्रकार, तुम
मेरे आश्रित, मुझे मिलोगे।

दसवाँ अध्याय

(विभूति योग)

1 पुनः कहा प्रभु ने :-'सुन अर्जुन!
तुम अति प्रीतिपरायण मुझ में,
इसीलिये, तेरे हित, मैं यह
परम ज्ञान फिर से कहता हूँ।

2 नहीं जानते मेरे 'होने को'
सुरगण भी औ' ऋषिगण भी,
मैं हूँ 'आदि' सभी का, सारे
देव महर्षि हुए मुझ से ही।

3 मुझ अजन्म को, आदिरहित को,
लोक महेश्वर, परम तत्त्व को,
मोह मूढता रहित, व्यक्ति जो
जाने, पाप मुक्त हो जाता।

4-5 भिन्न भिन्न, सारे जीवों के
सभी भाव, मुझ से ही बनते,
बुद्धि, ज्ञान, सम्मोह हीनता,
क्षमा, सत्य, दम, शम, औ' सुख, दुख,
सृष्टि, प्रलय या जन्म, मरण,
भय, अभय, अहिंसा, तोषण, समता,
दान, तपस्या, यश या अपयश,
सभी भाव मुझ से बनते हैं।

6 सात महर्षि, चार पहले के
सनक आदि औ' चौदह मनुजन,
सब मेरे संकल्प जात हैं,
जिनसे जनमे सभी लोक ये।

7 इस विभूति का औ' जो
मेरी योगशक्ति का, तत्त्व जानता,
अविचल भक्तियोग युत होता
वह, निस्संशय, ऐसा जानो।

8 मैं संपूर्ण सृजन का कारण,
मुझसे सारी सृष्टि प्रवर्तित,
इसे जानकर, बुद्धिमान जन
भावयुक्त हो, मुझ को भजते।

9 मुझ में चित्त लगा है जिन का,
मुझे प्राण अर्पित करते जो,
मेरी चर्चा करते, सुनते,
नित्य तुष्ट मुझ में रमते हैं।

10 मुझे प्रीति से भजने वाले,
ऐसे नित्य योगयुक्तों को,
बुद्धियोग देता वह, जिससे
मुझको ही वे पा लेते हैं।

11 उन पर अनुकम्पायुत होकर,
मैं आलोकित ज्ञान दीप से,
उनके आत्मभाव में स्थित हो,
अज्ञानान्धकार हर लेता।

12 यह सुन, विनत कुन्ति सुत बोला :-
हे प्रभु! परम ब्रह्म, पावन तुम,
परमधाम तुम पुरुष सनातन,
दिव्य, अनादि, अजन्म, सभी तुम।

13 देवों के ऋषि नारद ने
औ' देवल, असित, व्यास ऋषि सबने
मुक्त कण्ठ से महिमा गाई,
स्वयं आप ने भी बतलाया।

14 जो गाया ऋषियों ने, या जो
तुम ने बतलाया सब सच है
पर लगता, तेरे स्वरूप को
देव दनुज भी नहीं जानते।

15 आप जानते अपनी महिमा,
हे देवाधिदेव! पुरुषोत्तम!
हे भूतेश्वर! तुम्हीं भूत भावन,
जगदीश्वर तुम ही सब कुछ।

16 तुम्हीं बता सकते हो, प्रभु जी!
अपनी महिमा औ' विभूतियाँ,
जिन विभूतियों से, सारे
लोकों में व्याप्त हो रहे हो तुम।

17 हे योगेश्वर! सतत ध्यान चिन्तन
करते रहते भी, तुम को
कैसे जानूँ? किन किन भावों
में, विशेष चिन्तन श्रेयस्कर?

18 अपनी योग विभूतिशक्तियाँ
फिर से प्रभु विस्तार से कहें,
अमृतवचन सुन कर भी, मोहन,
मेरी तृप्ति नहीं होती है।

19 प्रभु बोले :-'हे अर्जुन! मेरी
अन्तहीन विस्तृत विभूतियाँ,
फिर भी, उनमें से प्रधान जो
दिव्य, तुम्हें कुछ बतलाता हूँ।

20 हे अर्जुन! मैं आत्मतत्त्व हूँ,
सभी प्राणियों का हृदयस्थित
मैं ही कर्ता, भर्ता, हर्ता,
आदि, मध्य, अवसान सभी मैं।

21 मैं हूँ विष्णु अदितिपुत्रों में,
ज्योतिधरों में अंशुमान रवि,
मरुतगणों में मैं मरीचि हूँ,
मैं शशांक हूँ नक्षत्रों में।

22 वेदों में मैं सामवेद हूँ,
इन्द्रदेव हूँ मैं देवों में,
सभी इन्द्रियों में मन हूँ मैं,
चेतन शक्ति सभी जीवों में।

23 एकादश रुद्रों में शंकर,
यक्ष राक्षसों में कुबेर हूँ।
पावकाग्नि हूँ मैं वसुओं में,
ऊँचे शिखरों में सुमेरु हूँ।

24 मैं पुरोहितों में मुखिया हूँ,
मुझे बृहस्पति जानो, अर्जुन!
कार्तिकेय सेनापतियों में,
मैं जलाशयों में सागर हूँ।

25 मैं भृगु हूँ महान ऋषियों में,
भाषाओं में 'ॐ' एकाक्षर
यज्ञों में जपयज्ञ श्रेष्ठ मैं,
तथा स्थावरों में हिमगिरि हूँ।

26 वृक्षों में मैं पीपल तरु हूँ,
तथा देव ऋषियों में नारद,
गन्धर्वों में श्रेष्ठ चित्ररथ,
और कपिल मुनि सिद्धजनों में।

27 उच्चैः श्रवा सभी अश्वों में,
मुझे अमृत सहजन्मा जानो,
श्रेष्ठ हाथियों में ऐरावत,
तथा नरों में हूँ नराधिपति।

28 मैं शस्त्रों में श्रेष्ठ वज्र हूँ,
कामधेनु हूँ मैं गौओं में,
प्रजननकर्ता कामदेव मैं,
औ' सर्पों में राजा वासुकि।

29 नागों में मैं शेषनाग हूँ,
तथा वरुण जलचर देवों में,
मैं अर्यमा पितर लोकों का,
नियमन करने वालों में यम।

30 मैं प्रह्लाद दैत्य संतति में
तथा काल गणना वालों में,
मैं मृगेन्द्र पशुओं का राजा,
पक्षि जगत का वैनतेय मैं।

31 पावन करनेवालों में मैं
पवन, मकर जलजीवों में हूँ,
शस्त्रधारियों में रघुपति हूँ,
मैं नदियों में श्री गंगाजी।

32 सभी सृष्टियों का हे अर्जुन!
आदि, मध्य, अवसान, सभी मैं
विद्याओं में आत्मज्ञान हूँ,
मैं हूँ वाद विवाद-ग्रस्त का।

33 अक्षरमाला में अक्षर मैं
द्वन्द्व समास समासों में हूँ,
मैं ही अक्षयकाल, तथा
धारक, विराट मैं, विश्वतोमुखी।

34 मैं ही मृत्यु सर्वसंहारक,
सब होने वालों का उद्‌भव,
शोभा, कीर्ति, क्षमा, वाणी, स्मृति,
मेधा, धृति, मैं महिलाओं की।

35 बृहत्साम हूँ मैं सामों में,
वेद ऋचाओं में गायत्री,
सब मासों में मार्गशीर्ष मैं,
ऋतुओं में राजा कुसुमाकर।

36 द्यूत कर्म मैं छलियाओं का,
और तेज तेजस्वी जन का,
सत्त्वशालियों का तो मैं हूँ
सत्त्वभाव, दृढ़बुद्धि औ' विजय।

37 वृष्णिवंश में वासुदेव मैं
तथा पाण्डवों में अर्जुन हूँ,
मुनियों में मैं व्यास, और
कवियों में शुक्राचार्य महाकवि।

38 दण्डशक्ति मैं शासक जन की,
और नीति विजयेच्छुक जन की
मौनभाव मैं गोप्य विषय में,
मैं हूँ ज्ञान ज्ञानवानों का।

39 हे अर्जुन! मैं अधिक क्या कहूँ
मैं हूँ बीज सभी जीवों का
कुछ भी नहीं बिना मेरे
प्रिय! सकल चराचर मुझसे होता।

40 नहीं कहीं भी अन्त, परन्तप!
मेरी दिव्य विभूति-सृष्टि का,
जो कुछ भी तुमको बतलाया
वह तो अति संक्षेप में कहा।

41 जो जो भी देखो विभूतियाँ,
श्रीमत्ता या ऊर्जा देखो,
उन उन को जानो, प्रिय अर्जुन!
मेरे तेज अंश से उपजीं।

42 बहुत अधिक क्या कहूँ, तुम्हें
क्या पाओगे तुम उसे जानकर?
आधारित यह जग समग्र
मेरे लघु अंश मात्र पर, अर्जुन!

ग्यारहवाँ अध्याय
(विश्वरूप दर्शन योग)

1 अतिकृतार्थ मन अर्जुन बोला :-
हे प्रभु! परम कृपा कर, तुमने,
जो गोपन अध्यात्म बताया,
उस से मैं अब विगतमोह हूँ।

2 सब जीवों के सृजन-विलय की
विस्तृत बातें तुम से सुन लीं।
कमलनेत्र, प्रभु! तेरी महिमा का
अक्षय माहात्म्य भी सुना।

3 ऐसा जो तुम ने बतलाया
अपना विश्वरूप परमेश्वर,
उस ऐश्वर्य छटा का, प्रभु!
मैं दर्शन करने को उत्सुक हूँ।

4 हे प्रभु! यदि मुझ से, उस महिमा का
दर्शन कर सकना संभव
तो कृपालु प्रभु! मुझको अपना
अव्यय रूप अवश्य दिखायें।

5 अति प्रसन्न प्रभु बोले :- अर्जुन!
देखो दिव्य सभी आकृतियाँ,
नानाविध, नानावर्णों की,
नानारूप, सहस्रों लाखों।

6 इनमें अनगिन सूर्य और वसु,
इनमें अनगिन रुद्र मरूत हैं,
अनगिन यहाँ कुमार अश्विनी,
ये आश्चर्य अदृष्टपूर्व सब।

7 आज समग्र जगत को देखो
चर औ' अचर यहीं मुझ में सब।
हे अर्जुन! जो अन्य देखना
चाहो, देखो इसी देह में।

8 पर तुम, अपने इन नेत्रों से,
यह सब नहीं देख सकते हो,
दिव्य नेत्र देता हूँ तुमको,
योगैश्वर्य देख लो मेरा।

9 इस प्रकार कह कर तब हरि ने,
महायोगियों के ईश्वर ने,
अपना परमैश्वर्य रूप सब,
विनत पृथा-सुत को दिखलाया।

10 वह असंख्य मुख आंखों वाला,
वह असंख्य अद्भुत रूपों का,
वह असंख्य दिव्याभूषणमय,
अनगिन दिव्योद्यत शस्त्रों का।

11 दिव्य वस्त्र मालाओं वाला
दिव्य गन्ध के लेपन वाला
सब प्रकार आश्चर्यों वाला
सभी ओर अनगिन मुख वाला।

12 एक साथ यदि दिवाकाश में
सूर्य सहस्र उदित हो चमकें,
जैसी प्रभा उठे, वैसी ही
प्रभा कृष्ण की दिखलाई दी।

13 तब उस देवेश्वर के तन में
एक साथ, यह सारी संसृति,
विविधरूप के स्थावर जंगम,
कोटि कोटि, अर्जुन ने देखे।

14 फिर तो वह विस्मय-विमूढ मन,
रोम रोम हर्षित हो, अर्जुन,
हाथ जोड़, प्रभु के चरणों में
सिर रख, गद् गद् स्वर यों बोला :-

15 "हे देवों के देव! तुम्हारी दिव्यदेह में
देख रहा हूँ सभी देवगण, सभी भूतगण,
पद्मनाभ के नाभिकमलस्थित ब्रह्मा जी को,
शंकर को, ऋषियों को, भास्वर उरगों को भी।

16 हे विश्वेश्वर! अनगिन भुजा, उदर, मुख वाले,
हे अनन्त रूपों वाले! हे विश्वरूप प्रभु!
नहीं दिखाई देता तेरा आदि कहाँ है?
कहाँ मध्य है? कहाँ अन्त है? तुम ही जानो।

17 मुकुट, गदा औ' चक्र लिये देदीप्यमान तुम,
सभी ओर से दीप्तिदीप्त हे तेजोमय! तुम,
द्युतिमय, सूर्य समान, प्रभो! तुम दुर्निरीक्ष्य हो,
सभी ओर से अप्रमेय दिखलाई देते।

18 तुम अक्षर हो, परमवेद्य, तुम ही परमेश्वर!
इस संपूर्ण विश्व के प्रभु, तुम ही अक्षय स्थल!
तुम ही रक्षक, गोप्ता शाश्वत धर्मभाव के,
अव्यय पुरुष तुम्हीं, तुमही परब्रह्म सनातन।

19 तुम अनादि भी, मध्यरहित भी, अन्तरहित भी
तुम अनन्तभुज, तुम असीम सामर्थ्ययुक्त प्रभु!
रवि शशि नेत्र तुम्हारे, दीप्त अग्निमय मुख तुम,
तपा रहे यह अखिल विश्व, निज तेज से स्वयम्।

20 व्याप्त तुम्हीं से व्योम और पृथिवी का अन्तर,
सभी दिशायें एक तुम्हीं से परिपूरित हैं,
देख तुम्हारे इस अद्भुत अति उग्र रूप को,
हे प्रभु! तीनों लोक त्रस्त, पीड़ित से लगते।

21 देख रहा ये सुर समूह तुम में लय होते,
हाथ जोड़ कुछ डरे डरे गिड़ गिड़ा रहे हैं,
'स्वस्ति' 'स्वस्ति' कहते महर्षि औ' सिद्ध तपस्वी
उत्तम स्तोत्रस्तवन कर तुमको रिझा रहे हैं।

22 सभी रुद्र, आदित्य, अश्विनी, साध्य मरुतगण
विश्वेदेव, पितर, राक्षस, गन्धर्व, यक्ष, वसु,
सिद्ध आदि देवों असुरों की सभी श्रेणियाँ,
हो विस्मय विमूढ, सब तुम्हें निहार रहे हैं।

23 अगणित मुख औ' नेत्र, भुजा, जंघा, पद वाले,
अगनित उदर, कराल दाँतवाले विराट को
देख देख कर सभी, लोक विस्मित व्याकुल हैं।
मैं भी हे विश्वेश! व्यथित हूँ चकराता हूँ।

24 नमस्पर्शी देदीप्यमान, अगणित वर्णों के,
दीप्त विशाल नेत्र वाले, इस विकट रूप को,
देख देख, मैं अति व्याकुल होता जाता हूँ,
सभी धीरता, सभी शान्ति मिटती जाती है।

25 ये विकराल दाढ़ वाले, तेरे अनगिन मुख,
प्रलय काल की अग्नि सदृश, मैं इन्हें देखकर
भूल गया सब दिशा ज्ञान, सुख शान्ति सभी कुछ
कृपा करो प्रभु! हे देवेश्वर! हे विश्वम्भर!

26-27 देख रहा ये सब धृतराष्ट्र पुत्र तेजी से,
संग लिये निज पक्ष समर्थक राजाओं को,
लिये पितामह भीष्म, द्रोण गुरु, वीर कर्ण को
पाण्डव दल के प्रमुख वीर नेताओं को भी,
खुले भयंकर दाढ़ोंवाले प्रभु के मुख में
प्रवहमान से, घुसे जा रहे, समा रहे हैं
कुछ हैं जो दान्तों के मध्य लटकते चूर्णित,
सिरविहीन औ' धड़विहीन दिखलाई देते।

28 जैसे अनगिन जल प्रवाह, सारी नदियों के,
तेज़ी से दौड़े प्रवेश करते समुद्र में,
वैसे ही ये बड़े बड़े योद्धा, जननायक,
समा रहे हैं तेरे ज्वाला दीप्त मुखों में।

29 जैसे दीप्तमान ज्वाला में कीट, पतंगे,
बड़े वेग से पैठ नष्ट होते रहते हैं,
वैसे ही ये सभी लोक, अति उग्र वेग से,
हे प्रभु! तेरे मुखमण्डल में समा रहे हैं।

30 लगता जैसे अपने ज्वालामय वक्त्रों से
सब लोकों को ग्रसते, चाट रहे, सब दिशि से।
सारा विश्व प्रभा अपनी से आपूरित कर,
उग्र तेज, प्रभु, तेरा सब को तपा रहा है।

31 हे देवेश्वर! उग्र रूप में आप कौन हैं?
क्या करने को हैं प्रवृत्त? मैं नहीं जानता।
कृपा करो, प्रभु! मैं चरणों में विनत पड़ा हूँ
हे अनादि! मैं तुम्हें जानने को उत्सुक हूँ।'

32 प्रभु बोले :— "मैं महाकाल हूँ, उग्ररूप में,
मैं प्रवृत्त हूँ सब लोकों के समाहार में।
ये जो दोनों ओर खड़े, दिखते, योद्धागण,
लड़ो ना लड़ो इन्हें समाप्त हुआ ही समझो।

33 अतः उठो, यश प्राप्त करो, जीतो अरिदल को,
सुख समृद्धिमय राज्य भोग, भोगो, प्रिय अर्जुन!
ये अरियोद्धा तो पहले ही मारे मेरे,
मात्र निमित्त बनो तुम तो, यह लीला मेरी।

34 द्रोणाचार्य, जयद्रथ औ' यह भीष्म पितामह,
कर्ण तथा जो अन्य शूर हैं, युद्ध में डटे,
मार दिये हैं मैंने, इन्हें मार दो अब तुम,
व्याकुल मत हो, जीतोगे रण में तुम अर्जुन!"

35 प्रभु के इन वचनों को सुनकर काँपता हुआ,
बारम्बार नमन करता औ' डरा डरा सा,
हाथ जोड़ कर, झुका हुआ, गद् गद् वाणी में
पुनः नमन कर के प्रभु को यों बोला अर्जुन :-

36 "हे अन्तर्यामी परमेश्वर! युक्तियुक्त यह
सारा विश्व प्रहर्षित हो तुम पर रीझा है
सिद्ध गणों के संघ स्तवन करते, प्रभु, तेरा,
भयव्याकुल राक्षस तो सारी ओर दौड़ते।

37 क्यों न नमन में झुकें सभी, हे महामहात्मन!
तुम हो स्रष्टा के स्रष्टा, सब विश्व तुम्हीं में,
तुम सदसत् से परे, सच्चिदानन्द, परात्पर,
तुम अक्षर, तुम अव्यय, तुम अनादि, तुम सब कुछ!

38 हे अनन्त! तुम आदिदेव! तुम पुरुष पुरातन,
परमाश्रय तुम अखिल विश्व के, परमधाम तुम,
तुम ज्ञाता, तुम ज्ञान, ज्ञेय तुम, सर्वव्याप्त तुम,
विश्वरूप, विश्वंभर तुम, सच्चिदानन्द तुम।

39 वायु तुम्हीं, यम, अग्नि तुम्हीं, तुम वरुण चन्द्र तुम
तुम्हीं प्रजापति विश्वपिता, तुम ही प्रपितामह,
नमस्कार तुम को सहस्र विधि नमस्कार हो,
नमस्कार, फिर नमस्कार, फिर नमस्कार, प्रभु!

40 नमस्कार तुमको आगे भी औ' पीछे भी,
सभी ओर से सब कुछ, तुमको नमस्कार हो,
हे अनन्त बल, अमित पराक्रम नमस्कार हो,
व्याप्त सभी में सर्व तुम्हें शत नमस्कार हो।

41-42 अपना सहचर समझ, कहा जो भी आग्रह से
'सखा', 'कृष्ण' या 'यादव' इस संबोधन से प्रभु!
वह, तेरी इस महिमा के, अज्ञान वश हुआ,
कुछ प्रमादवश या मैत्री के स्नेहवश कहा,
कभी खेलते, सोते या बैठे, खाते भी,
कभी अकेले या लोगों के सम्मुख बैठे,
जो भी कभी अवज्ञा, भूल हुई हो मुझ से
क्षमा करो, प्रभु क्षमा आप तो अप्रमेय हैं!

43 तुम्हीं पिता हो, सचराचर सारे लोकों के
तुम हो सब के पूज्य, गुरू, गुरुतर भी तुम हो।
तुम जैसा अप्रतिम, नहीं कोई लोकों में
तुम से अधिक भला, कोई कैसे हो सकता?

44 इसीलिये आराध्य ईश, मैं दण्डवत् पड़ा
तेरे चरणों में, मैं तुमसे करूं याचना,
क्षमा करो, प्रभु! जो भी भूल हुई हो मुझ से,
प्रेमी, पिता, सखा, ज्यों कर देते अपनों की।

45 देख तुम्हारे परमोदात्त, अदृष्ट रूप को
लोम लोम हर्षित है, पर मन व्यथित भीत भी,
अपना पहला सौम्य रूप ही दिखलाओ, प्रभु!
करो कृपा, हे करुणामय! प्रियवर! जगदीश्वर!

46 हे सहस्रभुज! विश्वमूर्ति! प्रभु! मुझको तो वह
अपना पहला रूप दिखाओ, मैं अति उत्सुक,
मुकुट धरे हाथों में गदा चक्रवाला वह
सौम्यरूप ही धरो, करो करुणा, मेरे प्रभु!

47 प्रभु बोले :- अर्जुन! तुम पर प्रसन्न हो, मैंने
आत्मयोग से अपना परम रूप दिखलाया,
आदि अन्त से रहित, तेजमय, विश्वरूप जो,
देखा तुम ने, वह अपूर्व, देखा न किसी ने।

48 हे प्रवीर! यह परमोदात्त विराट रूप, जो
देखा तुम ने, यह न दिखे, यज्ञों, दानों से,
वेद पाठ या कर्मकाण्ड या उग्र तपों से
यह न मिले, जो तुम्हें मिला इस जग में, अर्जुन!

49 मेरे इस अति लौकिक, घोर रूप से, अर्जुन!
मत घबराओ, भय छोड़ो, छोड़ो विमूढ़ता,
लो देखो फिर वही पुराना सौम्य रूप तुम,
शान्त चित्त होकर, प्रसन्नता से, धीरज से।

50 इस प्रकार कह कर, प्रभु ने फिर से अर्जुन को,
अपना वही पुराना परिचित रूप दिखाया,
भीत त्रस्त की व्यथा, विकलता दूर होगई,
त्राण प्राप्त से, फिर अर्जुन, प्रभु से यों बोले :-

51 'हे प्रभु! सौम्यरूप! जनरक्षक!
देख तुम्हें फिर मनुज रूप में,
मैं अब फिर स्थिरचित्त हो गया,
स्वस्थ, विनत, स्थित हूँ चरणों में।'

52 बोले प्रभु :-'जो तुमने देखा
रूप विराट, परम दुर्लभ वह,
देव वृन्द भी उसे देखने को
नित लालायित रहते हैं।

53 यह न सुलभ तप से, दानों से
वेद पाठ से या यज्ञों से,
देख सके हो, जिस प्रकार तुम,
मुझ को महाविराट रूप में।

54 केवल एक अनन्य भक्ति ही
मेरा ज्ञान करा सकती है,
दर्शन या मुझ में प्रवेश भी,
मात्र भक्ति से ही संभव, प्रिय!

55 सभी कर्म प्रभु कर्म जान कर,
मेरे आश्रित, संग रहित हो,
सब जीवों में वैर से रहित
जो, वह पा लेता मुझको, प्रिय!

बारहवाँ अध्याय

(भक्ति योग)

1 अर्जुन बोले :- "प्रभु बतलायें
कौन श्रेष्ठ योगी दोनों में,
सतत योगयुत भक्त तुम्हारा
या अक्षर-अव्यक्त-उपासक ?"

2 प्रभु ने कहा :- "ध्यान मुझ में रख
पूरी श्रद्धा से, जो योगी
सतत भजन करते मेरा,
मैं उन्हें श्रेष्ठतम योगी मानूँ।

3-4 सभी इन्द्रियों को वश में कर,
जो योगी, अव्यक्ताक्षर को,
अनिर्वाच्य, चिन्तनातीत को,
अचल, अटल, सर्वत्र व्याप्त को,
भजते, तथा समान भाव से
सब का हित करने में रत हैं,
वे भी मुझ को पा लेते हैं,
इस प्रकार प्रभु-चिन्तन-रत हो।

5 पर अव्यक्त-उपासक को तो
कष्ट अधिक सहना पड़ता है,
क्योंकि देहधारी साधक का
निराकार-गति पाना दुष्कर।

6-7 पर जो मेरे आश्रित, सेवक,
सारे कर्म मुझे अर्पित कर,
मेरा ध्यान किया करते हैं,
हो अनन्य मन मुझ में रमते,
मैं उनका उद्धारक बनता
बहुत शीघ्र, मेरे प्रिय अर्जुन!
इस क्षणभंगुर भवसागर से,
झटपट, उन्हें पार ले जाता।

बारहवाँ अध्याय

(भक्ति योग)

इन श्लोकों को
लोगों को अंकित किया है

IV 6, XVIII 14, XIII 11,
IX 22, 30, XVI 7, VI 35,
XIII 9, XVI 2, VI 32, XVIII 63,
XIII 8, XVIII 61, VI 6,
II 47, III 6, V 11, IX 39,
I 14, VI 46, XVIII 62,
XVI 3, II 16, XI 53,
II 50, XI 54, 55, IX 34,
XVIII 65, XIV 10, III 30,
IX 32, XVIII 46, XVIII 78,
II 69, IV 11, 41, VI 47, 30,
II 48, IX 29, XVIII 66,
II 18, VI 21, III 35.

...ary :

...ue onwards
Chapter IV

...का ता
...ड़ता है,
...क का
...ष्कर।

सेवक,
...कर,
...रते हैं,
...में रमते,
बनता
...प्रिय अर्जुन!
...सागर से,
...ले जाता।

बारहवाँ अध्याय

(भक्ति योग)

1 अर्जुन बोले :- "प्रभु बतलायें
कौन श्रेष्ठ योगी दोनों में,
सतत योगयुत भक्त तुम्हारा
या अक्षर-अव्यक्त-उपासक ?"

2 प्रभु ने कहा :- "ध्यान मुझ में रख
पूरी श्रद्धा से, जो योगी
सतत भजन करते मेरा,
... योगी मानूँ।

पर्व co-operative (effort +)
benefitting so many.

(2) 66 Verses
11th of second chapter onwards
to 32nd verse of chapter III

बहुत शीघ्र, मेरे प्रिय अर्जुन!
इस क्षणभंगुर भवसागर से,
झटपट, उन्हें पार ले जाता।

8 मन को मुझ में ही स्थापित कर,
स्थापित करो बुद्धि मुझ में ही,
मुझ में ही निवास पावोगे,
तदनन्तर, निस्संशय, अर्जुन!

9 जो तुम मुझ में मन स्थिर करना
कठिन समझते हो, प्रिय अर्जुन!
तो फिर तुम अभ्यास-योग से
बनो मुझे पाने के इच्छुक।

10 औ' जो तुम असमर्थ यहाँ भी,
कर्म करो केवल मेरे हित।
मेरे हित सब करते रहने से भी
मुझे प्राप्त कर लोगे।

11 मेरे हित सब करने में भी
जो अशक्त अनुभव करते तुम,
तो फिर पूर्ण यत्न से, सारे
कर्मफलों को त्यागो, अर्जुन!

12 ज्ञान, श्रेष्ठ अभ्यास मार्ग से,
ध्यान, ज्ञान से कहीं श्रेष्ठतर,
ऊँचा फल का त्याग ध्यान से,
फल का त्याग शान्ति देता है।

13-14 सब जीवों में द्वेष से रहित,
मित्र भाव औ' करुणा संयुत,
बिना अहम् से या ममता से,
क्षमावान, सम सुख औ' दुख में,
सदा तुष्ट, योगी, दृढ़ निश्चय,
मुझ में अर्पित मनोबुद्धि जो,
बस में जिसके सभी इन्द्रियाँ,
ऐसा मेरा भक्त मुझे प्रिय।

15 जिससे लोग न कभी क्षुब्ध हों,
जो न क्षुब्ध होता लोगों से,
हर्ष, क्रोध, भय, क्षोभ से रहित
ऐसा भक्त, मुझे प्रिय अर्जुन!

16 आकांक्षा से रहित, शुद्ध मन,
व्यथा रहित, निष्पक्ष औ' कुशल,
जो संकल्प मात्र का त्यागी,
ऐसा भक्त, मुझे प्रिय अर्जुन!

17 जो न हर्ष या शोक में पड़े,
आकांक्षा औ' द्वेष से रहित,
शुभ औ' अशुभ तजे दोनों, जो
ऐसा भक्त, मुझे प्रिय अर्जुन!

18-19 जो समान हो शत्रु मित्र में,
और मान-अपमान में सदा,
शीत उष्ण में या सुख दुख में,
जो समान हो, अनासक्त हो,
निन्दा या स्तुति में समान हो
मौन, तुष्ट, जिस किसी हाल में,
स्थित-मन, स्थान-मोह से विरहित,
ऐसा भक्त, मुझे प्रिय अर्जुन!

20 धर्म रूप इस अमृतबोध का,
पालन करते, यथाकथित जो
श्रद्धा पूर्वक, मेरे आश्रित,
ऐसे भक्त मुझे अतिशय प्रिय।

तेरहवाँ अध्याय

(क्षेत्र क्षेत्रज्ञ विभाग योग)

1 पुनः कहा प्रभु ने :- प्रिय अर्जुन!
यह शरीर ही 'क्षेत्र' कहाता,
इसे जानने वाले को
'क्षेत्रज्ञ' कहा करते हैं ज्ञानी।

2 सब क्षेत्रों में व्याप्त मुझे ही
तुम, 'क्षेत्रज्ञ' जान लो, अर्जुन!
'क्षेत्र' तथा 'क्षेत्रज्ञ' भेद का
ज्ञान, वस्तुतः ज्ञान कहाता।

3 क्या वह क्षेत्र? कहाँ से होता?
क्यों इसमें विकार होते हैं?
क्या क्षेत्रज्ञ-प्रभाव? इसे तुम
सुन लो अब, संक्षेपरूप में।

4 इसको विविध भाँति से गाया
विविध ऋचाओं में, ऋषियों ने
ब्रह्मसूत्र के विविध पदों में,
युक्ति युक्त विधि से समझाया।

5-6 क्षेत्र तथा उसके विकार सब
प्रिय अर्जुन! थोड़े में यों हैं :-
महाभूत या पाँच तत्त्व,
मति, अहंकार औ' दसों इन्द्रियाँ,
मन औ' पाँच विषय इन्द्रिय के,
इच्छा, द्वेष, धैर्य औ' सुख दुख,
'स्थूल देह संघात', चेतना,
ये सब 'क्षेत्र' कहे जाते हैं।

7-11 मान रहितता, दम्भ रहितता,
क्षमा, अहिंसा तथा सरलता,
गुरु-उपासना, शुचिता, स्थिरता,
तथा पूर्णतः आत्म संयमन,
इन्द्रिय-विषयों में विरक्ति,
औ' अहंकार-भावना रहितता,
जन्म, मृत्यु, वार्द्धक्य, रुग्णता,
आदि दुखों का भान निरन्तर।
पत्नी, घर औ' पुत्र आदि में
अनासक्ति, अपनत्वरहितता,
प्रिय या अप्रिय जो भी मिले
सदा दोनों में शान्तचित्तता,
मुझ में पूर्ण अनन्य योग
औ' एकनिष्ठ दृढ़ भक्तिभावना,
भीड़भाड़ से उदासीनता,
औ' रहना एकान्त जगह में,
आत्म ज्ञान में नित्य रमण,
औ' तत्त्व ज्ञान का सार जानना,
ये सब ज्ञान कहाता,
जो विपरीत, वही अज्ञान जान लो।

12 अब जो 'ज्ञेय' उसे कहता हूँ
जिसे जान कर अमृत प्राप्त हो,
वह अनादि है परम ब्रह्म
वह सत् या असत् नहीं कहलाता।

13 सभी ओर हैं हाथ, पाँव, उसके
सब ओर आँख, सिर मुख हैं
सभी ओर हैं कान, और वह
सब को आवृत किये हुए है।

14 सभी इन्द्रियों के गुण धारित
करता, बिना इन्द्रियों के वह,
अनासक्त, वह सब का पालक,
गुणातीत पर गुणभोक्ता भी।

15 जीवों के बाहर भीतर भी, वही,
अचर औ' चर भी वह ही,
इतना सूक्ष्म कि अविज्ञेय है,
दूर वही औ' निकट भी वही।

16 सब जीवों में एक वही है,
पर लगता ज्यों भिन्न भिन्न स्थित,
वही सृजन कर्ता जीवों का,
वह पालक, संहारक भी वह।

17 ज्योतिमयों की वही ज्योति,
अत्यन्त परे तम से कहलाती,
ज्ञान ज्ञेय औ' ज्ञानगम्य भी,
वही, सभी हृदयों में सुस्थित।

18 यह जो थोड़े में बतलाया
'क्षेत्र', 'ज्ञान' औ 'ज्ञेय' सभी कुछ।
इसे जान लेने पर, मेरा
भक्त भाव मेरा पा लेता।

19 प्रकृति पुरुष, दोनों को ही,
तुम आदि रहित ही जानो अर्जुन!
जितने भी परिवर्तन या गुण
सभी प्रकृति से उपजे जानो।

20 पाँच तत्त्व, इन्द्रियाँ, विषय इन्द्रिय के
सब का हेतु प्रकृति है।
सुखदुखादि के भोगभाव में
हेतु कहाता है जीवात्मा।

21 प्रकृति जन्य देहों में स्थित जो
जीवात्मा त्रिगुणों का भोक्ता,
संग गुणों का उसे डालता
अच्छे बुरे कर्म बन्धन में।

22 यह भी कहते हैं कि परात्पर
वही, सभी देहों में स्थित जो,
साक्षी वह, अनुमतिदायक भी,
भर्ता, भोक्ता वही महेश्वर।

23 ऐसे परम पुरुष को जाने,
जो जाने गुणमयी प्रकृति को,
सब प्रकार के कर्मों में रत
हो कर भी, न पुनः जनमे वह।

24 कुछ साधक उस परमात्मा को
ध्यानयोग से, निज में पाते,
ज्ञानयोग से अन्य, तथा
कुछ कर्मयोग से पा लेते हैं।

25 कुछ जो ये सब नहीं जानते
अन्यों से सुन भजन में लगें,
वे भी श्रवण-परायणता से,
मृत्यु लोक से पार उतरते।

26 जितने भी चर अचर जीव हैं,
होते रहते हैं, मरते हैं,
क्षेत्र तथा क्षेत्रज्ञ योग से।
ये सब प्रकृति पुरुष की लीला।

27 जो साधक सारे जीवों में
परमेश्वर को समस्थित देखे,
नश्वर देहों में देखे
अविनश्वर को, बस वही देखता।

28 ऐसा साधक, देख सभी में
ईश्वर की समान सत्ता को,
नहीं मारता आत्मा को
आत्मा से, अतः परम गति पाता।

29 सभी ओर सब कर्म, प्रकृति की
लीला से होते रहते हैं,
ऐसा जो देखे, वह निज को
कर्तृभाव से नहीं देखता।

30 भिन्न भिन्न सारे जीवों को
जब उस एक ब्रह्म में देखे,
देखे उससे निसृत सभी को,
तब वह स्वयं ब्रह्म हो जाता।

31 यह परमेश्वर गुणातीत है,
आदि रहित है, यों अव्यय है,
देहों में स्थित होकर भी, यह
कर्तृभाव से लिप्त न होता।

32 जैसे यह आकाशसूक्ष्म
सब में स्थित, फिर भी लिप्त न होता,
वैसे सब देहों में स्थित
होकर भी, आत्मा लिप्त न होता।

33 जैसे एक अकेला रवि
सारे जग को आलोकित करता,
वैसे वह 'क्षेत्रज्ञ', सभी
क्षेत्रों को आलोकित करता है।

34 इस प्रकार जो ज्ञान-चक्षु से
'क्षेत्र' तथा 'क्षेत्रज्ञ' जान लें,
जीव, प्रकृति औ' मोक्ष जान लें,
वे पा लेते परम पुरुष को।

चौदहवाँ अध्याय

(गुण-त्रय विभाग योग)

1 प्रभु बोले :- अब और भी सुनो
परम ज्ञान, जो ज्ञानोत्तम है,
जिसे जानकर, सारे मुनिजन
परासिद्धि को यहाँ पा गये।

2 आश्रय ले इस परमज्ञान का
ब्रह्मस्वरूप हुए वे मुनिजन,
सृष्टि काल में जन्म न लेते,
व्यथा न झेलें, प्रलय काल में।

3 महत् ब्रह्म या प्रकृति नटी ही
मेरा गर्भाशय, मैं उस में
गर्भाधान किया करता हूँ,
जिससे सकल चराचर होता।

4 सभी योनियों में जितने भी
जीव जन्म लेते हैं, अर्जुन!
महत् ब्रह्म गर्भाशय उनका,
मैं हूँ पिता बीज संस्थापक।

5 सत्त्व, रजस औ' तमस, तीन गुण,
ये तो प्रकृति जन्य हैं, अर्जुन!
ये ही अविनाशी, देही को
देह भाव में बाँधा करते।

6 निर्मलता से सत्त्व उपजता,
सर्व प्रकाशक रोग रहित जो,
सुखासक्ति औ' ज्ञान संग से
बाँध लिया करता देही को।

7 रागात्मकता से, तृष्णा से,
रजगुण का उद्भव तुम जानो।
हे अर्जुन! यह कर्मसंग से
बाँध लिया करता देही को।

8 तमगुण तो अज्ञानजन्य है,
सभी देहियों का मोहक है।
यह प्रमाद, आलस, निद्रा में,
बाँधा करता है देही को।

9 सत्त्व बाँधता है सुख में,
रज कर्मों में उलझा लेता है।
आवृत करके ज्ञान, तमोगुण तो,
प्रमाद के संग जोड़ता।

10 सत्त्व वृद्धि पर, रज तम दबते,
रजो वृद्धि पर, सत्त्व और तम,
तमो वृद्धि पर, उसी भाँति से
सत्त्व और रज दोनों दबते।

11 ज्ञान ज्योति से या विवेक से
जब यह देह प्रकाशित होती
सभी ओर से, तब तुम जानो,
प्रिय अर्जुन, यह सत्त्व वृद्धि है।

12 रजो वृद्धि होने पर, अर्जुन!
व्यक्ति कर्मचक्कर में पड़ता,
इच्छा, लोभ, अशान्ति आदि भी
उसी तरह बढ़ते जाते हैं।

13 तमो वृद्धि हो जाने पर तो
मोह प्रमाद अधिक बढ़ जाते,
बुझ जाता है सब प्रकाश,
केवल निवृत्ति ही छा जाती है।

14 जो देही निज देह छोड़ता
सत्त्व वृद्धि होने पर, अर्जुन!
वह पाता उस विमल लोक को
जो उत्तम ज्ञानी जन का है।

15 रजो वृद्धि में देह त्याग से
कर्म संगियों में जा जनमे।
तमो वृद्धि में मरने पर तो
मूढ़ योनि में जनमे देही।

16 श्रेष्ठ कर्म का तो निर्मल, सात्विक
फल मिलता है देही को।
रज से अन्त दुःख फल मिलता,
महामूढ़ता मिले तमस से।

17 ज्ञान जनमता है सतगुण से,
रजगुण से है लोभ जनमता,
और जनमते हैं तमगुण से
मोह, मूढ़ता औ' प्रमाद, प्रिय!

18 सतोगुणी ऊपर उठते हैं,
रजोगुणी तो रहें मध्य में
नीच प्रकृतिवाले, तामस जन
नीचे नीचे ही गिरते हैं।

19 जब न देखता भिन्न गुणों से
किसी अन्य कर्ता को द्रष्टा,
गुणातीत को, मुझ को जाने,
तब वह मुझमय हो जाता है।

20 देहजन्य इन तीन गुणों को
जब अतिक्रम कर लेता देही,
जन्म, मृत्यु, वार्द्धक्य दुःख से,
मुक्त हुआ, अमृतत्त्व भोगता।

21 विनत हुए अर्जुन ने पूछा :-
"क्या लक्षण प्रभु गुणातीत के?
क्या आचरण? किस तरह देही
अतिक्रम करता है, त्रिगुणों का?"

22-25 "अर्जुन! तीन गुणों से क्रमशः
ज्योति, प्रवृत्ति, मोह, जो होते,
आने पर जो नहीं रोकता,
जाने पर जो नहीं चाहता,
उदासीन साक्षी सा बैठा,
गुण-प्रभाव से अविचल रहता,
'खेल' गुणों का देखा करता,
स्वस्थचित्त जो नहीं डोलता,
सुख दुख में समान, 'स्व' में स्थित,
लोहा पत्थर कंचन में सम,
प्रिय, अप्रिय का भेद न माने,
रहे धीर, निन्दा स्तुति में सम,
जो समान, अपमान मान में,
शत्रुपक्ष औ' मित्रपक्ष में,
सब धन्धों से अनासक्त जो,
गुणातीत वह व्यक्ति कहाता।

26 वह भी जो अनन्य मन, मेरी
सेवा करता भक्ति योग से
अतिक्रम कर इन तीन गुणों का
ब्रह्मरूप का अधिकारी है।

27 जो अविकारी, अमृतब्रह्म है,
जो अखण्ड, सच्चिदानन्द है,
शाश्वत धर्म तथा एकान्तिक
सुख, सब कुछ की स्थिति मैं ही हूँ।

पन्द्रहवाँ अध्याय

(पुरुषोत्तम योग)

1 ऊर्ध्वमूल, नीचे शाखायें,
सभी ऋचायें जिसके पत्ते,
उस अव्यय, अश्वत्थ वृक्ष को
जो जाने, वह वेद जानता।

2 नीचे, ऊपर, शाखायें फैलीं
गुणसिंचित विषय कोंपलें,
मनुज लोक में नीचे भी हैं
फैलीं जड़ें, कर्म बन्धन की।

3-4 यहाँ नहीं उपलब्ध रूप यह,
आदि, अन्त, स्थिति कहीं नहीं है।
दृढ़ जड़ वाले उस पीपल को
अनासक्ति से, दृढ़ हो, काटे।
फिर खोजे वह परम प्राप्य,
जिसको पाकर फिर नहीं लौटता,
उस अनादि की शरण गहे,
जिससे है सृष्टि प्रसार, सनातन।

5 मान मोह से, सुखदुखादि
द्वन्द्वों से तथा कामनाओं से,
अनासक्त, अध्यात्म प्रेमरत,
बुद्धिमान, पाते अव्ययपद।

6 जहाँ नहीं भासित होते हैं
सूर्य, चन्द्रमा, पावक, कुछ भी,
जहाँ पहुँच कर नहीं लौटते,
परमधाम वह मेरा, अर्जुन!

7 मेरा ही वह अंश, सनातन,
जीव बना, जो जीवलोक में,
पड़ा प्रकृतिवश, कर्षित करता
मन समेत छह विषय इन्द्रियाँ।

8 जब वह ईश्वर देह प्राप्त करता
या जब वह देह छोड़ता,
इन सब को ऐसे ले जाता
जैसे वायु गन्ध ले जाती।

9 कान, आँख, जिह्वा, घ्राणेन्द्रिय
और त्वचा, छहवाँ चंचल मन,
इन सब में स्थित हो, जीवात्मा
विषय भोग भोगा करता है।

10 जब यह देह छोड़ता, या
इस में स्थित, गुणयुत भोग भोगता,
मूढ़ न इसे देख पाते,
केवल ज्ञानी ही देखा करते।

11 यत्ननिरत, योगी भी, इसको
अपने में स्थित देखा करते,
मूढ़ चित्त, अविवेकी तो
करके प्रयत्न भी देख न पाते।

12 ऐसे ही जो तेज सूर्य में,
जिससे सब आलोकित होता,
जो शशि में या जो पावक में,
मेरा ही वह तेज समझ लो।

13 पृथ्वी में प्रवेश करके,
मैं ही धारण करता, जीवों को,
मैं ही पोषण करता हूँ
सब औषधियों का, सरस सोम बन।

14 मैं ही बन जठराग्नि, सभी जीवों की,
प्राण, अपान युक्त हो,
सब की देहों में स्थित, उनका
अन्न चतुर्विध रहूँ पचाता।

15 मैं सब के अन्तःस्थित, मुझ से
स्मरण, ज्ञान, संशय-विनाश, सब,
वेद्य सभी वेदों में मैं,
वेदान्त प्रकाशक भी, ज्ञाता भी।

16 प्रिय! ये दो हैं पुरुष लोक में,
'क्षर' है एक, दूसरा 'अक्षर'
नाशवान सब 'क्षर' कहलाते,
अविनाशी कहलाता 'अक्षर'।

17 पर जो उत्तम पुरुष, अन्य ही
वह, कहलाता है परमात्मा,
तीनों लोकों में प्रविष्ट
वह, अव्यय, ईश्वर, सब का पालक।

18 क्यों जो मैं अतीत हूँ 'क्षर' से,
औ' 'अक्षर' से भी उत्तम हूँ,
इसीलिये मैं लोक वेद में
'पुरुषोत्तम' प्रसिद्ध हूँ, अर्जुन!

19 मोहरहित, जो व्यक्ति, इस तरह,
मुझ को पुरुषोत्तम को जाने,
वह सर्वज्ञ, सभी भावों से
मेरा ही आराधन करता।

20 यह जो अभी कहा है, मैंने,
यह अति गुह्य शास्त्र है, अर्जुन!
इसे जानकर, बुद्धिमान होता,
कृतार्थ, निर्मलमन, होता।

सोलहवाँ अध्याय

(दैवी-आसुरी संपद् विभाग योग)

1-3 प्रभु बोले :- ये हैं लक्षण सब
'दैवीसम्पद' प्राप्त व्यक्ति के :-
निर्भयता, निर्मलता मन की,
ज्ञान योग में सदा दृढ़स्थिति,
दान, यज्ञ, इन्द्रिय संयम,
स्वाध्याय, तपस्या तथा सरलता,
सत्य, अहिंसा, क्रोध रहितता,
कोमलता, संकोच, अचलता,
तेज, क्षमा, धृति, शुचिता,
औ' निर्वैर भाव औ' निरभिमानिता।

4 'असुर सम्पदा' वालों के तो
दम्भ, दर्प, अभिमान, परुषता,
क्रोध और अज्ञान, प्रमुखता से,
होते हैं, प्यारे अर्जुन!

5 दैवी सम्पद मोक्षदायिका,
असुर सम्पदा बन्धन देती,
पर चिन्तित मत हो, अर्जुन!
तुम दैवी सम्पद लेकर जनमे।

6 दो ही जीव प्रकृतियाँ जग में
दैवी तथा आसुरी, अर्जुन!
दैवी का विस्तार सुन चुके हो,
अब सुनो आसुरी का भी।

7 असुर प्रकृति के नहीं जानते
कहाँ प्रवृत्त, निवृत्त कहाँ हों।
शुचिता, सदाचार, सच्चाई,
उनमें नहीं हुआ करते हैं।

8 वे जग को कहते असत्य,
आश्रय से रहित, बिना ईश्वर का
नर-नारी संयोग से बना
काम-भोग से भिन्न नहीं कुछ।

9 इसी दृष्टि का आश्रय लेकर
मन्द बुद्धि मृत अन्तरात्म वे
क्रूर कर्म रत हो, जग का
अपकार, विनाश किया करते हैं।

10 दम्भ, मान, मद, में डूबे वे
मिथ्याचारी, मूढ़, शुचिरहित,
कभी न पूरी होने वाली
कामवृत्ति ले, जग में विचरें।

11 अन्तकाल तक, बड़ी बड़ी
चिन्ताओं के चक्कर में, डूबे,
विषय भोग में रहें लीन,
इसको सर्वस्व समझते रहते।

12 आशाओं के जाल में फँसे,
काम, क्रोध रत ऐसे प्राणी,
कामभोग हित, क्रूर, कपटता से,
धनसंचय में रत रहते।

13-16 'यह मैंने पा लिया आज'
'अब उसको भी पाकर दम लूँगा'
'इतना धन तो मेरा ही है'
'कल वह भी मेरा ही होगा'
'वह दुश्मन तो मार लिया है'
'औरों को भी नष्ट करूँगा'
'मैं ही ईश्वर, मैं ही भोगी'
'मैं ही सिद्ध, सुखी, बलशाली,'
'मैं पैसे कुटुम्ब वाला हूँ'
'अन्य कौन? जो मेरे जैसा?'
'यज्ञ करूँगा, दान करूँगा,'
'मौज करूँगा,' कहें मूढ़ यों।
बहुचित्ती, भ्रम में डूबे वे,
मोहजाल में उलझे रहते,
काम भोग आसक्त, आसुरी वृत्ति,
अन्ततः नरक में गिरें।

17 अपने को ही सब कुछ मानें,
दुर्विनीत, धन मान में सने
ये मदमत्त, बिना विधि के ही
मात्र नाम का यज्ञ रचाते।

18 अहंकार, बलदर्प में तने,
काम क्रोध के आश्रित, निन्दक,
निज शरीरस्थित, पर शरीरस्थित,
मुझ से ही तो वैर कमाते।

19 द्वेष, क्रूरता में डूबे,
जगती में, इन निकृष्ट अशुभों को,
इसीलिये मैं, लगातार
आसुरी योनि में, फेंके रखता।

20 वज्रमूढ़ ये, जन्म जन्म में
असुर योनियों में ही उलझें
बिना मुझे पाये ही, अर्जुन!
अघमाधम गति पाते रहते।

21 प्रिय अर्जुन! वास्तव में तो बस
तीन भाँति के नरक द्वार हैं,
काम, क्रोध औ' लोभ,
आत्मनाशक हैं, इन तीनों को छोड़ो।

22 इन तीनों तम के द्वारों से
मुक्त हुआ नर, निश्चय, अर्जुन!
आत्म श्रेय-हित करे आचरण
इससे सहज परम पद पावे।

23 पर जो शास्त्र विहित विधि छोड़े,
मनमाने आचरण में लगे,
उसे लोक सुख या कि स्वर्ग सुख,
या कि परम पद, प्राप्ति असंभव!

24 अतः प्रमाण शास्त्र ही मानो,
कार्य अकार्य जानने में तुम,
शास्त्र विधान जान लेने पर,
उचित कर्मक्षम हो जावोगे।

सत्रहवाँ अध्याय

(श्रद्धात्रय विभाग योग)

1 अर्जुन ने पूछा :- "प्रभु! जो नर
शास्त्र विधान छोड़, श्रद्धा से
यज्ञ करे, उसकी क्या स्थिति है?
सात्विक, राजस या कि तामसिक?"

2 प्रभु बोले :- "निज निज स्वभाववश,
तीन भाँति श्रद्धा देही की,
सात्विक, राजस, तामस, अब तुम
उनके भी स्वरूप को सुन लो।

3 अपने अपने अन्तस् के
अनुरूप सभी श्रद्धा रखते हैं
श्रद्धामय यह पुरुष, अन्ततः
जैसी श्रद्धा वैसा होता।

4 जो सात्विक वे देव पूजते,
राक्षस-यक्ष पूजते राजस,
तामसवृत्ति मनुज तो, अर्जुन!
प्रेतों-भूतों को भजते हैं।

5-6 पर जो दम्भी, अहंकारयुत,
कामासक्त, हठी, तामस जन,
शास्त्रों का उल्लंघन करते,
घोर तपस्या में रहते रत,
पंचभूतमय इस शरीर को
निर्मम हो कृश करते रहते,
अन्तः स्थित मुझ को दुख देते,
असुर प्रकृति के हैं वे, निश्चय।

7 प्रिय अर्जुन! सब का भोजन भी
त्रिविध; सत्त्व, रज, तममय, होता,
यज्ञ, दान, तप भी, त्रिगुणात्मक,
इन के भी अब भेद जान लो।

8 आयु, बुद्धि, बल, स्वास्थ्य, प्रीति
सुखवर्द्धक, भोज्य पदार्थ, सरस जो
चिकने, स्थायी, सहज मनोहर,
प्रिय होते हैं सात्त्विक जन को।

9 कड़वे, खट्टे, तीखे, रूखे,
गरम मसालों वाले दाहक,
खाने जो दुख-शोक-रोग देते,
राजस जन को प्रिय लगते।

10 अर्धपका या बहुत पका,
रसरहित तथा दुर्गन्ध युक्त जो
बासी, जूठा तथा अपावन, भोजन
तो, तामस जन को प्रिय।

11 सात्त्विक है वह यज्ञ समर्पण,
जो विधियुत, कर्तव्य समझ कर,
बिना फलाकांक्षा के, पूरे
मन से, मानव करते रहते।

12 पर, अर्जुन! जो मात्र दम्भहित
या विशिष्ट फल की चाहत से
यज्ञ कर्म आडम्बर करते
वे राजसी प्रकृति के, जानो।

13 इसी भाँति श्रद्धाविहीन जो,
मन्त्रहीन, दक्षिणारहित जो,
अन्नदान से हीन, यज्ञ जो,
विधि से रहित, तामसिक हैं वे।

14 ब्रह्मचर्य, शुचिता, सीधापन
तथा अहिंसा से युत, जिन में
देव, गुरू, द्विज औ' ज्ञानी का
पूजन हो, वे शारीरिक तप।

15 'जो न चुभे' ऐसी वाणी,
जो सच्ची हो, प्रिय हो, हितकर हो,
धर्मग्रन्थ अभ्यास में सधी,
वह वाणी का तप कहलाता।

16 मन प्रसन्नता, शान्त भाव,
मित वाणी औ' संयम अन्तस् का,
शुचि-चिन्तन से भावशुद्धि,
यह सब मानस का तप कहलाता।

17 बिना फलाकांक्षा से, पूरी श्रद्धा से,
जो किया गया हो,
तीन तरह का तप, शरीर का,
वाणी का, मन का, वह सात्त्विक।

18 पर जो तप, सत्कार, मान
पूजा के हित, या मात्र दम्भ से
किया जाय, वह तो राजस है,
अस्थिर, क्षणभंगुर फल देता।

19 जो तप मूढ़ बुद्धि से, हठ से,
निज पीड़ा या पर-विनाश हित,
किया जाय, वह तप निश्चय ही
तामस तप, कहलाता, अर्जुन।

20 'देना ही कर्तव्य' यों समझ,
देश काल औ' व्यक्ति देख कर,
बिना फलाकांक्षा के, या
प्रतिदान भाव के देना सात्त्विक।

21 पर जो दान, फलाकांक्षा से
या प्रतिदान भाव से होता,
जिस में क्लेश भाव भी रहता,
वह तो राजस दान कहाता।

22 बिना ध्यान के देश काल के,
व्यक्ति योग्यता ध्यान के बिना,
बिना मान, सत्कार भावना,
दिया दान तामस कहलाता।

23 'ओम्' 'तत्' 'सत्' ये निर्देशक हैं
तीन ब्रह्म के प्रियवर, अर्जुन!
इन तीनों से पुराकाल में
विप्र, वेद औ' यज्ञ, सब बने।

24 अतः 'ओम्' का उच्चारण कर,
यज्ञ, दान, तप आदि क्रियायें
ब्रह्म ज्ञान से युत, योगी जन,
पुराकाल से करते आये।

25 बिना फलेच्छा, मोक्षाकांक्षी,
"तत्" का ही सब, इसे जान कर,
यज्ञ, दान, तप आदि क्रियायें
विविध रूप की करते आये।

26 सत्यभाव या साधुभाव, के हित
'सत्' का प्रयोग होता है
श्रेष्ठ, प्रशंसायोग्य कर्म भी
'सत्' से निर्देशित होता है।

27 यज्ञ, तपस्या तथा दान में
सत् की ही स्थिति कहलाती है
परमेश्वर हित किये कर्म भी
सत् से ही अभिहित होते हैं।

28 पर जो श्रद्धारहित दान, तप,
यज्ञ कर्म, वे असत् कहाते।
वे न लाभदायक इस जग में
उस जग में भी नहीं काम के।

अठारहवाँ अध्याय

(मोक्ष संन्यास योग)

1 विनत भाव से अर्जुन बोला :-
'हे प्रभु! मेरी इच्छा है यह,
तत्त्वरूप संन्यास, त्याग का
पृथक् पृथक् कर के, समझायें।'

2 प्रभु बोले :- सब काम्य कर्म को
तज देना संन्यास कहाता।
सब कर्मों के फल को तजना
त्याग कहा करते हैं, बुधजन।

3 कुछ विद्वानों के मत में, सब
कर्म, दोष वत् त्याग योग्य हैं।
'यज्ञ, दान, तप कर्म न तजने योग्य'
अन्य बुध जन कहते हैं।

4 हे अर्जुन! मेरा निश्चित मत
इस प्रसंग में सुनो ध्यान से,
पुरुषसिंह! यह त्यागभावना
तीन भाँति की कहलाती है।

5 यज्ञ, दान, तप कर्म न तजने
योग्य, सदा करणीय ही रहें।
निस्सन्देह कर्म तीनों के
पावन करते हैं बुधजन को।

6 यज्ञ, दान, तप, ये सारे ही
कर्म, सदा निस्संग भाव से,
बिना फलेच्छा के ही हैं
करणीय, यही निश्चित उत्तम मत।

7 वर्णाश्रम स्वभाव स्थिति से जो
नियत कर्म वे नहीं त्याज्य हैं।
मोह जाल में फँस कर उनका
त्याग, त्याग तामस कहलाता।

8 जो काया के कष्ट से डरे,
दुखद समझ कर कर्म को तजे,
वह राजसी प्रकृति का त्यागी,
उसे त्याग-फल-प्राप्ति न होती।

9 पर, अर्जुन! जो नियत कर्म को
संग तथा फल दोनों तजकर,
करे, जान कर "यह करना है"
वह त्यागी सात्विक कहलाता।

10 छिन्न संशयी, मेधावी, जो
द्वेष न करता, द्वेष्य कर्म से,
प्रेयस् में आसक्त न होता,
वह त्यागी सात्विक कहलाता।

11 यहाँ पूर्णतः कर्मत्याग
कायाधारी के लिये असंभव।
त्याग करे जो कर्म-फलों का
वह त्यागी, त्यागी कहलाता।

12 जो न त्याग करते, उनको,
कर्मों का अच्छा, बुरा, मिश्र, फल
देह त्याग पर भी मिलता,
पर नहीं कभी भी संन्यासी को।

13 प्रिय अर्जुन! अब सुनो, पाँच ये
कारण हैं जो कर्म सिद्धि के,
सांख्यशास्त्र का सार इन्हें जानो,
तुम मुझको सुनो ध्यान से।

14 यह शरीर या क्षेत्र, तथा कर्ता,
दशेंन्द्रियाँ औ' चेष्टायें
विविध भाँति की इनकी,
तथा पाँचवां दैव अदृष्ट यहाँ पर।

15 जो भी कर्म करे प्राणी,
मन से, शरीर से, या वाणी से,
न्यायोचित या अनुचित
यही पाँच उसके कारण होते हैं।

16 इस प्रकार यह सब होने पर
जो नर केवल अपने को ही
कर्ता जाने, वह अविवेकी,
मलिनबुद्धि, कुछ नहीं समझता।

17 जिस में कर्ताभाव नहीं है,
जिसकी बुद्धि अलिप्त जगत से,
सब जग को मारे भी, तो वह
हन्ता नहीं, नहीं बँधता वह।

18 ज्ञान, ज्ञेय औ' ज्ञाता, इनसे
तीन भाँति की कर्म प्रेरणा
बनती; कर्ता, करण, क्रिया से
त्रिविध कर्म-संग्रह बनता है।

19 त्रिगुणों के अनुरूप, त्रिविध हैं
ज्ञान, कर्म औ' कर्ता तीनों।
ये भी जानो जो बतलाया
गुण-गणना-सम्बद्ध शास्त्र में।

20 जिससे भिन्न भिन्न जीवों में
उस अभिन्न को, अविकारी को,
अद्वितीय को, सब में देखे,
सात्विक ज्ञान उसे तुम जानो।

21 जिस से पृथक् पृथक् सारे
जीवों में पृथक् भाव को समझे
नाना विध नाना भावों को
देखे, राजस ज्ञान कहाता।

22 पर जो एक कार्य में उलझे
ऐसे जैसे वही एक है
तत्त्व रहित, अविवेकयुक्त जो
तुच्छ, ज्ञान वह तामस जानो।

23 नियत कर्म, जो अनासक्ति से,
रागद्वेष के बिना, किया हो,
बिना फलाकांक्षा के हो,
वह कर्म कहा जाता है सात्त्विक।

24 पर जो किसी कामना से हो,
जिसमें अहंभाव हो या फिर,
बहुविध क्लेश कष्ट वाला हो,
ऐसा कर्म कहाता राजस।

25 बिन सोचे परिणाम हानि
औ' निज सामर्थ्य, जीव हिंसा के,
मात्र मोह से किया जाय जो,
ऐसा कर्म कहाता तामस।

26 कर्ता वह सात्विक है, जो हो
अनासक्त औ' धैर्ययुक्त हो,
बिना 'अहम्' बोले, उत्साही,
निर्विकार हो, हानि लाभ में।

27 जो आसक्ति युक्त, लोभी हो,
कर्म फलेच्छा युत, हिंसक हो,
जो अशुद्ध हो, हर्ष शोक युत,
ऐसा कर्ता राजस जानो।

28 अवशेन्द्रिय, संस्कारहीन, जो,
हठधर्मी, आलसी, प्रवंचक,
परजीविका नाशकारक,
चिन्तारत कर्ता जानो तामस।

29 प्रिय अर्जुन! अब सुनो, तीन जो
भेद, बुद्धि के तथा धैर्य के,
पृथक्, पृथक्, पर पूर्णरूप से,
तुमको मैं सब बतलाता हूँ।

30 सात्त्विक बुद्धि जानती, दोनों
मार्ग, प्रवृत्ति निवृत्ति रूप जो,
कार्य-अकार्य, भीति-निर्भयता,
बन्ध-मोक्ष, का भेद जानती।

31 राजस है वह बुद्धि पार्थ! जो
नहीं समर्थ जान सकने में
धर्म-अधर्म, अकार्य कार्य का
सही रूप क्या है, यथार्थ में।

32 जो अधर्म को धर्म मानती,
अन्धकार में सदा घिरी जो,
सब कुछ को उलटा ही समझे,
वह तामसी बुद्धि कहलाती।

33 मन प्राणों, इन्द्रिय व्यापारों को,
अविचाली योग भाव से,
जो धृति धारण करती है, वह
सात्विक धृति कहलाती, अर्जुन!

34 धर्म, अर्थ औ' काम भाव को,
जो धृति धारण करती, अर्जुन।
जो फल की आकांक्षा से युत
वह धृति राजस कहलाती है।

35 दुष्ट बुद्धि वाला जिस धृति से
स्वप्न, भीति, शोकाकुलता को
नहीं छोड़ता मद विषाद को,
वह धृति तामस कहलाती है।

36-37 सुख भी तीन तरह का जग में
हे अर्जुन! अब सुनो ध्यान से :-
जिससे हो प्रसन्न अभ्यासी,
जिससे दुःख नाश हो जाये,
जो साधनारम्भ में चाहे,
विष सम लगे, अन्त अमृतोपम,
आत्मबुद्धि की कृपा से हुआ,
वह सुख सात्विक कहलाता है।

38 जो विषयों के योग से जुड़ा,
आदि में लगे अमृत तुल्य जो,
पर परिणाम विषैला जिसका,
वह सुख राजस कहलाता है।

39 जो आरम्भ तथा परिणति में
भी, केवल मोहान्ध बनाये,
निद्रा, आलस औ प्रमाद से
हो पैदा, वह तामस सुख है।

40 वास्तव में इस धरती पर या
अन्तरिक्ष या देवलोक में,
ऐसा कुछ भी नहीं रहित जो
प्रकृतिजन्य, इन तीन गुणों से।

41 इसी भाँति चारों वर्णों के,
ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र के,
गुण-स्वभाव वश अपने अपने,
कर्म विभाजन किये गये हैं।

42 शान्ति, संयमन, तप, शुचिता,
आस्तिकता, क्षमा तथा सीधापन,
पाठन-पठन वेद शास्त्रों का,
ब्राह्मण के हैं कर्म स्वभावज।

43 शौर्य, तेज, धीरता, न्याय-
दक्षता, युद्ध में पीठ न देना,
दान तथा स्वामित्व भाव,
ये कर्म स्वभावज हैं क्षत्रिय के।

44 खेती, गोरक्षा, क्रय-विक्रय,
स्वाभाविक हैं कर्म वैश्य के,
सेवा, आज्ञा पालनादि
स्वाभाविक कर्म शूद्र के जानो।

45 अपने अपने कर्म में लगा
मानव सिद्धि प्राप्त करता है।
जिस प्रकार निज कर्म में लगा
सिद्धि प्राप्त करता वह सुन लो।

46 जिससे सृष्टि हुई जीवों की,
जिससे यह सारा प्रसार है,
निज कर्मों से उसे पूज कर
सर्व सिद्धि पा लेता मानव।

47 अन्य धर्म के परिपालन से
अपना विगुण धर्म भी श्रेयस्
निज स्वभाव-अनुरूप, कर्म करने से,
पाप नहीं लगता है।

48 दोष युक्त लगने पर भी, निज
सहज कर्म को कभी न छोड़े,
कर्मारम्भ सभी दोषावृत
लगते, जैसे अग्नि धुँए से।

49 अनासक्त जो सभी ओर से,
विगत कामना तथा जितात्मा,
कर्मबन्ध से रहित,
सिद्धि वह पा लेता, संन्यास मार्ग से।

50 सिद्धि प्राप्त वह, जिस प्रकार
सच्चिदानन्द ब्रह्म पाता है,
मुझसे तुम संक्षेप में सुनो,
वही ज्ञान की परमास्थिति है।

51-53 शुद्ध बुद्धि से युक्त तथा
धृति से आत्मा को नियमन में कर,
शब्द, स्पर्श, रस, रूप गन्ध से विरत,
और सब द्वन्द्व नष्ट कर,
जो एकान्त मग्न, लघु भोजी,
मन वाणी शरीर संयत कर,
ध्यान योग में रहे नित्य,
वैराग्य भाव का आश्रय लेकर,
अहंकार, बल, दर्प, काम औ'
क्रोध तथा संग्रह को तज कर,
ममता रहित, शान्त मन जो,
वह ब्रह्म भाव का अधिकारी है।

54 ब्रह्म हुआ, वह तो प्रसन्न मन,
शोक न करता, चाह न करता,
सब जीवों में समदर्शी वह,
मेरी पराभक्ति पा लेता।

55 "मैं जो हूँ" "जितना हूँ" इसको
पराभक्ति से वह पहचाने,
तत्त्व रूप में जाने, इससे
मुझ में ही प्रविष्ट होता है।

56 मेरे आश्रित हो, सब कर्मों को
करने वाला भी निश्चय
मेरी कृपा सहारे, शाश्वत
अव्यय पद को पा लेता है।

57 सभी कर्म मुझको अर्पण कर,
मन से, मेरे आश्रित होकर,
बुद्धि योग का अवलम्बन ले,
मुझ में चित्त रमाओ अविरत।

58 मुझ में चित्त रमाओ, मेरी
कृपा सहारे, सब दुर्गों को
पार करोगे; जो न सुनो तो
अहंकारवश, नाश सुनिश्चित।

59 अहंकार के वशीभूत जो
"नहीं लड़ूँगा" यह मानोगे,
मिथ्या यह निर्णय होगा, निज
प्रकृति तुम्हें रण में झोंकेगी।

60 जिसे मोह के चक्कर में पड़,
नहीं चाहते करना, अर्जुन!
विवश हुए तुम उसे करोगे
निज स्वभाववश, कर्मों में बँध।

61 प्रिय अर्जुन! सब जीवों के
अन्तस् में परमेश्वर विराजता
चक्कर में डाले रखता, ज्यों
यंत्र चढ़े, सब को, मायावश।

62 उस परमेश्वर की ही, पूरे
मनोभाव से शरण गहो प्रिय!
शाश्वत परमशान्ति पावोगे
परमधाम, उसके प्रसाद से।

63 गोपनीय से गोपनीय, यह
ज्ञान, तुम्हें बतलाया, अर्जुन!
भलीभाँति पूरा विचार कर
जैसा चाहो करो आचरण।

64 सारे गुह्य ज्ञान का श्रेयस्,
परम कथन यह, फिर से सुन लो,
तुम मेरे अतिशय प्रिय, निश्चय
इसी लिये तेरे हित कहता।

65 मुझ में मनवाले हो, मेरे भक्त,
यज्ञ मेरे ही हित कर,
मुझे नमन कर, पावोगे
मुझको, यह सत्य प्रतिज्ञा मेरी।

66 सब धर्मों का परित्याग कर
केवल मेरी शरण गहो, प्रिय!
मैं तुम को सारे पापों से
मुक्त करूँगा, मत हो चिन्तित।

67 यह न ज्ञान कहना अपात्र से,
जो न तप निरत, जो न भक्तियुत,
जो ईश्वर से द्वेष रचाता,
औ' जो सुनना नहीं चाहता।

68 जो इस परम गुह्य को, मेरे
भक्त जनों को समझावेगा।
मुझ में परमभक्ति के कारण
निस्संशय मुझ को पावेगा।

69 इसीलिये मनुजों में, इससे
अधिक न प्रियतर करने वाला
है, या होगा कभी धरा पर,
मुझ को भी उस से बढ़ प्रियतर।

70 यह जो है संवाद हमारा,
सार धर्म का, इसे पढ़े जो,
ज्ञानयज्ञ से उसके, मैं
पूजित होऊँगा, यह मेरा मत।

71 द्वेष दृष्टि से रहित, व्यक्ति जो
श्रद्धायुत, यह ज्ञान सुनेगा,
वह भी पापमुक्त हो, उत्तम
पुण्य प्राप्य, शुभ धाम गहेगा।

72 यह जो मैंने बतलाया, क्या
सुना, पार्थ! एकाग्र चित्त से?
वह अज्ञान मोह जो तुम को
घेरे था, क्या नष्ट हो गया?

73 सविनय अर्जुन बोला :-"प्रभु!
तेरे प्रसाद से नष्ट-मोह मैं
प्राप्त विवेक, बिना संशय,
तेरी आज्ञा अनुसार चलूँगा।"

74 संजय बोला :-"इस प्रकार
संवाद कृष्ण अर्जुन का, अद्भुत,
रोमांचित करने वाला, जो
मैंने सुना, तुम्हें बतलाया।

75 परम गुह्य यह, सुन पाया मैं
व्यास कृपा से, दिव्य दृष्टि से,
स्वयं योग योगेश्वर से,
भगवान कृष्ण जी के श्रीमुख से।

76 हे राजन! कृष्णार्जुन के
इन पुण्य प्राप्य अद्भुत वचनों को,
बारबार स्मृति में लाता, मैं
बारबार हर्षित होता हूँ।

77 हरि के अति अद्भुत स्वरूप को,
सर्वाश्लेषी विश्वरूप को,
पुनः पुनः स्मृति में लाता,
मैं विस्मित रोमांचित होता हूँ।

78 योगेश्वर श्री कृष्ण जहाँ हैं,
जहाँ धनुर्धारी वीरार्जुन,
वहीं विजय, शोभा, विभूति,
औ' अटलनीति, ऐसा मेरा मत।।

प्रकाशक
जे. सी. पब्लिकेशन्स
ऐ.आई.एम.ओ. हाउस, 1-ई/11, स्वामी रामतीर्थ नगर,
(झन्डेवालान ऐक्सटेनशन)
नई दिल्ली-110055
दूरभाष: 732591, 7528622